जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ-341306 (राजस्थान)

दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र

प्रमाण पत्र पाठ्यक्रम

विषय : योग एवं प्रेक्षाध्यान

प्रथम प्रत्र : योग सिद्धान्त

लेखक
डॉ. अशोक भास्कर

संपादक
प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

कॉपीराइट
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

संस्करण : 2022

प्रकाशक
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ – 341306 (राज.)

अनुक्रमणिका

क्र. सं.	विवरण	पृ.सं.
1.	योग की उत्पत्ति, अर्थ, परिभाषा और प्रकार	01–48
2.	पतंजल योग सूत्र की विषय वस्तु (चार पाद), क्रियायोग एवं अष्टांग योग	49–60
3.	हठ योग का परिचय	61–70
4.	षट् कर्म का परिचय (हठ योग प्रदीपिका के संदर्भ में)	71–77
5.	आसन, प्राणायाम, बंध और मुद्रा का परिचय (हठ योग प्रदीपिका के संदर्भ में)	78–99

इकाई – 1

योग की उत्पत्ति, अर्थ, परिभाषा और प्रकार

(ज्ञान, भक्ति, कर्म और मंत्र योग)

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 भूमिका

1.2 योग शब्द की व्युत्पत्ति

1.3 योग का परिचय

1.4 योग की प्राचीनता

1.5 ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक विकास

1.6 योग की परिभाषाएं

1.7 योग मार्ग में आने वाले विघ्न

1.8 प्राचीन ग्रन्थों में योग की प्रासंगिकता–

1.9 उपनिषदों के महत्त्वपूर्ण तथ्य

1.10 योग के प्रकार

1.11 निष्कर्ष

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है– 1. योग के भावार्थ को समझना, 2. योग की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता का ज्ञान प्राप्त करना। 3. योग मार्ग में आने वाली बाधाओं को समझना, 4. प्राचीन ग्रन्थों में योग की प्रासंगिकता का ज्ञान प्राप्त करना।, 5. ज्ञान, भक्ति, कर्म और मंत्र योग के बारे में जानकारी प्राप्प करना।

1.1 भूमिका

भारतीय परंपरा में योग का महत्व अनादिकाल से रहा है। प्राचीन ऋषियों, महर्षियों का जीवन योगमय रहा है। वे सर्दी और गर्मी में योगानुकूल जीवन जीते हुए अपना बचाव करते रहे हैं। उस समय गुरूकुलों में भी छात्रों को योग का ज्ञान कराया जाता था। वर्तमान समय में योग एक व्यवसाय का रूप ले लिया है। प्रस्तुत इकाई में योग की प्राचीन परंपरा और उसके आधुनिक रूप का अध्ययन किया गया है। साथ ही साथ विभिन्न प्रकार के योग (ज्ञान, भक्ति, कर्म और मंत्र) के बारे में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

1.2 योग शब्द की व्युत्पत्ति

पाणिनीय गण पाठ के अनुसार, दिवादि गणीय 'युज्' धातु में घञ् प्रत्यय लगने पर व्युत्पन्न योग शब्द का अर्थ समाधि होता है। रूधादि गणीय 'युज्' धातु में घञ् प्रत्यय लगने से निर्मित योग शब्द का अर्थ

संयमन होता है। इस प्रकार गण भेद से योग शब्द के प्रमुख अर्थ समाधि, संयोग तथा संयमन होते हैं। इसके अतिरिक्त युजिर् योगे इस धातु में कर्ता के अर्थ में घञ् प्रत्यय लगने से निष्पन्न योग शब्द का अर्थ 'संयोग' होता है। आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण के अनुसार भी युज् धातु दो अर्थों में प्रयुक्त है जिनमें एक का अर्थ है जोड़ना या संयोजित करना है तथा दूसरे का समाधि है। योग शब्द का सम्बन्ध 'युज' शब्द से भी है जिसका अर्थ जोड़ना होता है और अनेक स्थलों पर इसी अर्थ में वैदिक साहित्य में प्रयुक्त है। इस प्रकार व्याकरण के अनुसार 'योग' शब्द साध्य और साधन दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। अतः योग शब्द के अर्थ– संयोजन, मिलन, संयमन, कार्य प्रवणता, संयोग तथा समाधि होता हैं।

1.3 योग का परिचय

मनुष्य अपने जीवन को अच्छा जीने के लिए चेष्टा करता है। इस चेष्टा में अच्छा–बुरा, सुख–दुःख आदि को ध्यान में रखकर मनुष्य एक सुखमय जीवन को जीने का प्रयास करता है। आज का युग भौतिकता का युग है और मनुष्य भौतिक पदार्थों में ही सुख की तथा सत्य की खोज करता रहता है।

योगियों का यह मानना है कि भौतिक जगत की अपनी एक सत्ता एवं सीमा है जिससे हम इन्द्रिय सुख तो प्राप्त कर सकते हैं परन्तु सत्य का पूर्ण साक्षात्कार नहीं कर सकते।

हम अपने मन के द्वारा परम आनन्द एवं सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं। हमें कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। अतः योगीजन अपनी आंतरिक एवं बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करके सत्य को जानने का प्रयत्न करते हैं।

योग के मार्ग पर चलने वाले साधक अनेक बार असफलता का वरण करता है। जब वह बार–बार असफल होता है तो भौतिकवादी प्रश्न उठाते हैं कि यह एक साधक होते हुए बार–बार क्यों असफल होता है। साधक की असफलता उसकी असफलता नहीं है बल्कि आत्म साक्षात्कार के मार्ग पर बढ़े हुए कदमों में आने वाले व्यवधान को दूर करने का एक मौका मिलता है। आज का मनोविज्ञान भी यह कहता है कि विषय सुख ही हमें भ्रम, अज्ञान और दुःख में ले जाने वाला है और पवित्रता आध्यात्मिक जीवन की पहली और आवश्यक सीढ़ी है।

ईसामसीह ने कहा है कि–

"Blessed are the pure in heart, for they shall see God."

गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि– बाह्य संयोगों में आसक्त चित्त वाला वह पुरुष आत्मसुख का लाभ करता है और ब्रह्म के योग में चित्त को लगाकर अक्षय सुख का उपयोग करता है। गीता में ही कहा गया है–

इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न होने वाले विषय सुख दुःख को ही उत्पन्न करते हैं और आदि–अन्त वाले हैं। हे कुन्ति पुत्र विवेकी पुरुष उनमें रमण नहीं करता है।

भगवान कृष्ण गीता में योग का अर्थ बताते हुए कहा है–'योगः कर्मसु कौशलम्'' अर्थात् कर्म में प्रवीणता ही योग है। एक अन्य स्थान पर ''समत्वं योग उच्यते'' कहकर समत्व को योग का लक्षण बताया है।

1.4 योग की प्राचीनता

स घा नो योग आभुवत्। (सामवेद 2/3/10/3)

अर्थात् परमात्मा हमारी योगदशा–समाधिदशा में साक्षात् होता है।

आत्मा को पवित्र करने वाले, सूर्य के समान ज्ञानी, मननशील चित्त में, भीतर के हृदयाकाश में, परमसुख या मोक्ष मार्ग में जाने के लिए अश्व के समान गतिशील मन को योगसमाधि द्वारा ईश्वर से उसके प्रति जोड़ें।

सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि हम लोग मोक्ष सुख के लिये, यथायोग्य सामर्थ्य के बल से, परमेश्वर की सृष्टि में उपासना योग करके, अपने आत्मा को शुद्ध करें, जिससे अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाश रूप आनन्द को प्राप्त करें।

अध्यात्म योग के लाभ से देव–परमात्मा को जानकर विद्वान् हर्ष–शोक से रहित हो जाते हैं। श्रद्धा, भक्ति और ध्यान योग के द्वारा आत्मा को जानना चाहिए। योगाभ्यास से परमात्मा की सूक्ष्मता को देखें।

मनुस्मृति में कहा गया है कि समाधि विशेष के अभ्यास से तत्व ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ध्यान योग से परमात्मा को जान सकते हैं, इसलिये ध्यान योग परायण होना चाहिए।

योगात् संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता। (आदित्य पुराण)

अर्थात् योग से ज्ञान उत्पन्न होता है और योग नाम ही ईश्वर विषयक चित्त की एकाग्रता है।

योगेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते। (विदुरनीति)

अर्थात् योग से धर्म और विद्या दोनों की रक्षा होती है।

कोई मनुष्य चाहे कितना भी ज्ञानी, विरक्त, धर्मनिष्ठ और जितेन्द्रिय क्यों न हो, वह बिना योग के मोक्ष का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता।

योग शास्त्रों में योग के चार प्रकार बताये गये हैं। गीता में तीन विभाग एवं सम्मोहनतन्त्र योग में पांच विभाग बताये हैं। योगशास्त्र में जो चार विभाग बताये गये हैं वे हैं–मन्त्र योग, लय योग, हठ योग एवं राज योग। गीता में कर्म योग, भक्तियोग और ज्ञान योग का माहात्म्य है परन्तु यदि इसके छठे अध्याय का अध्ययन किया जाये तो उसमें हठ योग का भी वर्णन मिलता है। सम्मोहन तन्त्र में ज्ञान योग, राज योग, लय योग, हठयोग और मंत्र योग इन पांच योगों के बारे में बताया गया है। भारतीय योग परम्परा में प्रमुख रूप से–वैदिक, बौद्ध और जैन ये तीन धारायें विशेष रूप से प्रचलित हैं।

यदि वैदिक परम्परा को देखें तो उसमें योग के बारे में बहुत कुछ मिलता है। योग का इतिहास कम से कम पांच हजार साल से अधिक पुराना है। अंग्रेज विद्वान सर जॉन मार्शल अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि मोहन जोदड़ो की खुदाई में जिस नर देवता की मूर्ति मिली है वह त्रिपुरजी है, वह योगमुद्रा में बैठा है तथा मूर्ति की नासाग्र दृष्टि इस बात को प्रमाणित करती है कि प्राप्त मूर्ति किसी योगी की ही है। मोहन जोदड़ो का समय वैदिक काल के समकालीन है। वेदों का प्रादुर्भाव उन ऋषियों से माना जाता है जिन्होंने योग के द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया था।

साहित्यिक दृष्टि से योग शब्द की प्राचीनत को देखें तो योग शब्द सर्वथा ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद में कहा है कि कोई भी यज्ञ–कर्म बिना योग के सफल नहीं होता है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए भी ऋग्वेद में कहा है–सा धी नो योग आ भुवत्। अर्थात् ईश्वर की कृपा से हमें योग सिद्धि होकर विवेक ख्याति तथा ऋतम्भर प्रज्ञा प्राप्त होती है। ऋग्वेद के अनुसार योग के प्रथम वक्ता हिरण्यगर्भ है। जिन्होंने ही इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना की है। महाभारत में भी हिरण्यगर्भ को योग का सबसे प्राचीन वक्ता बताया है। रामायण में इसी हिरण्यगर्भ को सृष्टि का अन्तरात्मा बताया है।

अथर्ववेद में आत्मज्ञान का आधार पिण्ड को माना है। ज्ञानियो का मत है कि यह पुरुष ब्रह्म है। यह शरीर सभी देवताओं का घर है, सब देवता इस शरीर में वास करते हैं जैसे अपने गौशाला में गौएं यथास्थान बैठी हुई होती हैं और सब देवों का देव परमेश्वर भी हमारे अन्तस में है। सूर्य देवता हमारे चक्षु को, ज्ञान को, ज्ञान के विस्तृत कोश को अधिकृत करके आ बैठा है और उसके साथ सम्पूर्ण द्युलोक, उसके सब देवता समाये हुए हैं। वायु देवता हमारे प्राण में, मन सहित अथवा हमारे प्राण शरीर में ठहरा हुआ है और उसके साथ सम्पूर्ण अन्तरिक्ष लोक तथा अन्तरिक्ष के सब देव आये हुए हैं। अग्नि देवता हमारे शेष

स्थूल शरीर को संभाल कर बैठा हुआ है और उसके साथ समस्त द्यूलोक तथा पृथ्वी के सब देव विराजे हुए हैं। इस प्रकार यह सभी, त्रिलोकी के भवनों और उनके 33 देवता इस शरीर में आये हुए हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ब्रह्माण्ड ही पिण्ड में है। सभी कुछ हमारे अंदर ही है और मनुष्य को जब कोई भी अनुभूति होगी तो अपने अन्दर से ही होगी। हे मनुष्य! इस परम सत्ता का साक्षात्कार कर, यही उस परमेश्वर की वाणी, वेदों का आदेश है। अतः योगविद्या में शीघ्र सफलता हेतु ईश्वरीय भाव का निरन्तर बने रहना आवश्यक है, अन्यथा निरन्तर ईश्वरीय भाव के बिना आसनों का अभ्यास करने से इस मनुष्य शरीर में जड़ता का प्रादुर्भाव हो सकता है क्योंकि जो मानव कल्याण का भाव है, वह उस निर्गुण, निराकार और कल्याण स्वरूप परमात्मा 'शिव' के निरन्तर सानिध्य से ही हो सकता है और जैसा कि उसका उपरोक्त वर्णन आया है कि वह परमात्मा हमारे शरीर के अंदर ही विद्यमान है, वही हमारी आत्मा है, उसी से हमें निरन्तर जुड़े रहना चाहिए, इसी के द्वारा हम इस मनुष्यता का निरन्तर विकास कर सकते हैं।

उपनिषद् काल योग का स्वर्णिम समय रहा है। इस युग में योग का समग्र विकास हुआ। उपनिषदों में योग आध्यात्मिकता के लिए अधिक प्रयुक्त हुआ है। योग अध्यात्म का मार्ग होने के कारण इसे मोक्ष का साधन माना गया है। उपनिषदों में योग के द्वारा आत्मज्ञान से जो फल की प्राप्ति होती है उसका सुन्दर वर्णन किया गया है। गीता में कहा है निष्काम कर्म अनिवार्य रूप से मोक्ष देने वाला है।

श्वेताश्वरोपनिषद् में कहा है कि आत्मज्ञानी परमात्मा को जानता है और जो परमात्मा को जानता है वह निश्चित ही इस संसार से मुक्त हो जाता है। उपनिषदों में योग के लिए आचार–विचार के बारे में बताते हुए कहा है–श्रद्धा, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, दान आदि परम गति देने वाले है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है–

यतो बाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

आनन्द ब्रह्मणो विद्वान न विभेति कुतश्चनेति।।

अर्थात् समाधि की अवस्था में मन एवं वाणी निवृत्त हो जाते हैं, साधक निर्भिक हो जाता है और ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है।

महाभारत में भीष्मपर्व, अनुशासन पर्व और शान्तिपव्र में योग का वर्णन मिलता है। महाभारत में कहा है मन को वश में करना सरल कार्य नहीं है। अतः साधक को चाहिए कि वह धीरे–धीरे अभ्यास के द्वारा ही विषयों से विमुख होते हुए चित्त को ध्यान में लगायें। महाभारत में ध्यान और योगाभ्यास के लिए बारह प्रकार के योगों के बारे में कहा है जो इस प्रकार हैं–

1. देश योग– एकान्त एवं निर्जन स्थान पर ध्यान के लिए देश योग है।
2. कर्म योग– नित्य कर्मों को नियमानुसार एवं शास्त्रोक्त कार्य करना कर्म योग है।
3. अनुरागयोग– ईश्वर के प्रति तीव्र अनुराग रखना।
4. अर्थयोग– केवल साधनोपयोगी सामग्री को रखना।
5. उपाययोग– ध्यान के लिये उपयुक्त आसनों का प्रयोग।
6. आपाययोग–विषयों एवं स्वजनों के प्रति आसक्ति एवं ममता रहित होना।
7. निश्चय योग– गुरु एवं वेदशास्त्रों में विश्वास एवं श्रद्धा रखना।
8. चक्षुष योग– अपनी दृष्टि को नासाग्र पर केन्द्रित करना।
9. आहार योग– शुद्ध एवं सात्विक भोजन का प्रयोग।
10. संहार योग– इन्द्रियों को विषयों के प्रति विमुख करना।
11. मनोयोग– मन को स्थिर एवं एकाग्र करना।
12. दर्शन योग–दुःखजन्य परिस्थितियों का वैराग्यपूर्वक दर्शन करना।

भारतीय साहित्य का शिरोमणि ग्रन्थ गीता जो महाभारत का ही एक अंग है यह ग्रन्थ विशुद्ध रूप से योगशास्त्र है। गीता का योग नितान्त जीवन तथ्य पर आधारित है। गीता का निष्काम कर्म योग सांसारिक मनुष्यों के लिये एक महान अवदान है।

गीता में योग विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है–

'युजिरयोगे' धातु से बना 'योग' शब्द का अर्थ स्वरूप परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध से है। उदाहरणार्थ– समत्वं योग उच्यते।

'युज समाधौ' धातु से बना 'योग' शब्द का अर्थ चित्त की स्थिरता अर्थात् समाधि की स्थिति से है। उदाहरणार्थ–'यत्रोपरमते चित्तं निरूद्धं योग सेवाया।' 'युज संयमने' धातु से बना 'योग' शब्द का अर्थ सामर्थ्य प्रभाव से है। उदाहरणार्थ–'पश्य मे योगमेश्वरम्।

गीता में कहा है कि जीव का परमात्मा के साथ कभी भी सम्बन्ध विच्छेद अर्थात् वियोग नहीं होता है। अनुकूल–प्रतिकूल, ज्ञान–अज्ञान हर अवस्था में जीव का परमात्मा के साथ योग है। क्योंकि जीव उस परमात्मा का ही अंश है। किन्तु जीव को परमात्मा के साथ सम्बन्ध का अनुभव नहीं होता है। वह भूल से यह मानने लगता है कि इस शरीर के साथ ही उसका सम्बन्ध है। जीवात्मा का शरीर के साथ माने हुये संयोग का वियोग ही 'योग' है।

योगाभ्यास के लिये आहार–विहार आदि नियमों के बारे में बताते हुए भगवान कृष्ण कहते हैं हे अर्जुन! योग न तो बहुत खाने वाले का और न बिल्कुल न खाने वाले का तथा न तो बहुत शमन करने वाले का और न सदा जागने वाले का सिद्ध होता है। आगे कहा है योग तो यथायोग्य आहार–विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

वर्तमान में महर्षि पतंजलि का योगदर्शन एक सर्वमान्य योग का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। जिन्होंने बहुत सटीक, सूत्रबद्ध एवं कम शब्दों में योग का सुन्दर वर्णन किया है।

पतंजलि ने योग का जो मार्ग बताया है। आज के योगाचार्य अथवा योगी उस मार्ग को न अपनाकर केवल थोड़े अभ्यास से ही सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहते हैं।

1.5 ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक विकास

भगवान शिव को योगीश्वर कहा जाता है, तथा आदिनाथ भगवान शिव को योगशास्त्र का उत्पत्तिकर्ता माना जाता हैं उन्होने सर्वप्रथम आदिशक्ति पार्वतीजी को प्रथम शिष्या के रुप में योग विज्ञान का ज्ञान दिया।योगी याज्ञवाल्क्य स्मृति के अनुसार योग विज्ञान के मूल उपदेशक हिरण्यगर्भ है तथा इनसे प्रचीन योग विज्ञान का कोई दूसरा जानकार नहीं है।

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।।

ऋग्वेद में भी हिरण्यगर्भ के सम्बन्ध में वर्णन मिलता है कि सृष्टि के पहले हिरण्यगर्भ विद्यमान थे इन हिरण्यगर्भ भगवान् को समष्टि बुद्धि कहते है, इन्ही को योगी लोग महान् तथा विरचि और अज (अजन्मा) भी कहते हैं।

i. पूर्व वैदिक काल

सिन्धु घाटी सभ्यता–यह सभ्यता मातृ शक्ति की पूजक थी। यही से पशुपतिनाथ के रुप में पद्मासन में बैठे योगी की मूर्ति प्राप्त होती है। इस सभ्यता के अवशेषों से ज्ञात होता है कि ईसवीं सन् से 3000 वर्ष पूर्व तथा उससे भी पहले भारतवर्ष में योग विज्ञान का प्रचार हो चुका था। मूर्तियाँ जिनका मस्तक,

ग्रीवा और धड़ बिल्कुल सीधा है और जिनके अर्ध निमिलित नेत्र नासिका के अग्रभाग पर स्थिर है। यह ध्यानस्थ मुद्रा में बैठे योगी की प्रतिमा है।

ii. वैदिक काल

वेदों की प्राचीनता–वेद इस वसुन्धरा की सबसे प्राचीन उपलब्ध रचनाएँ है। मैकसमूलर 1200 से 1000 ई. पू. प्राचीन मानते है। जैकोबी एवं बालगंगाधर तिलक ने 4500–2500 ई. पू. तथा विन्ट्रनिट्ज के अनुसार 2500 से 1500 ई. पू. के बीच इनका काल माना है। वैदिक साहित्य में प्राणापानदि वायु, सत्यधर्म की महत्ता, ध्यान, आचार शुद्धि, ध्यानात्मक आसन की स्थिति आदि यौगिक तकनीकि व्यवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख आया है। जैसे :– यजुर्वेद (7:27) एवं (7:14), अथर्ववेद (11:4) अथर्ववेद (19:43:1) में दीक्षा, तपस् इन शब्दों का प्रयोग योग साधना के अर्थ में किया गया है। शथपथ ब्राम्हण, एतरेय ब्राम्हण, कौशीतिक जैमनीय एवं गोपथ आदि में प्राणविद्या के बारे में विस्तार से वर्णन है। प्रणव विद्या का विकसित रूप आ चुका था प्रणव का अन्य नाम ऊँ है। ब्राम्हण ग्रंथ वेदों के कर्मकाण्ड भाग कहलाते है। जो अपने विभिन्न वेदों से जुड़े है इनमें शथपथ ब्राम्हण सबसे ज्यादा विस्तारित है।

संस्कृत शब्द वेद का अर्थ है–'ज्ञान' और ऋक् का आशय 'प्रशंसा' से है। इसमें तीन योग शामिल हैं–

1. **मत्रं योग**–जिसमें मंत्रों में निहित शक्ति के कारण, मंत्र मन के रूपांतरण के उपकरण के रूप में सक्रिय हो जाता है।
2. **प्राण योग**–प्राणायाम के द्वारा जैव तंत्र को बल या शक्ति प्राप्त होती है।
3. **ध्यान योग**–'धी' शब्द का आशय बुद्धि या मेधा से है, जो ध्यान शब्द का मूल है। 'धी' अथवा बुद्धि का यह संवर्धन मुख्य रूप से विवेक संकाय है, जो योग और वेदान्त की प्रमुख विशेषता है।

iii. उपनिषदों का काल

योग का अभिप्राय है–प्रभव तथा अप्यय।

प्रभव–शुभ संस्कार एवं विवेक की उत्पति

अप्यय– अशुभ संस्कार एवं अविवेक का नाश

वृहदारण्यकोपनिषद् (1:5:3) एवं छांदोग्य उपनिषद् में (1:3:3) प्राण, अपान आदि पाँच वायुओं के महत्व का वर्णन किया गया है। हृदय तथा उससे निकलने वाली नाड़ियों का वर्णन कठोपनिषद् (2:3:16) तथा छांदोग्य उपनिषद् (8:6:1) में पाया जाता है। कठोपनिषद, छांदोग्य उपनिषद् तथा तैतिरीय उपनिषद् (6:1) में हठयोग की सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझी जाने वाली सुषुम्नानाड़ी का अप्रत्यक्ष उल्लेख भी मिलता है। कठोपनिषद् में योग की सुस्पष्ट व्याख्या (2:3:11) की गयी है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में योगाग्निमय शरीर की तथा ध्यानयोग का संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है। मुंडकोपनिषद् (3:2:6) में सन्यासयोग शब्द का प्रयोग मिलता है।छान्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषद् ''क्रियायोग'' का आधारभूत सिद्धांत बताते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में योग अभ्यासों का क्रमवार विवरण प्राप्त होता है तथा उनका शरीर क्रियात्मक प्रभाव का वर्णन भी प्राप्त होता है। एतरेय और तैतरीय उपनिषद् में शरीर के विभिन्न कोषों का वर्णन मिलता है।

मैत्रायणी उपनिषद् में योग को षडंग–योग कहा गया है–

(1) श्वसन नियंत्रण (प्राणायाम), (2) इन्द्रियनियंत्रण (प्रत्याहार),

(3) ध्यान, (4) एकाग्रता (धारणा),

(5) तर्क तथा (6) अन्तर्ज्ञान या अनुभवातीत/ज्ञानातीत अवस्था (समाधि)

कठोपनिषद् (2.5.4) के अनुसार योग एक ऐसी अवस्था है, जिसमें हमारी समस्त इन्द्रियां वश में हो जाती हैं, यानी इन्द्रियों पर और मन पर पूर्ण नियंत्रण हो जाता है।

iv . पूर्व–प्राचीन काल (महाकाव्य काल)

दो प्रमुख भारतीय महाकाव्य महाभारत एवं रामायण विभिन्न प्रकार की यौगिक क्रियाओं एवं साधनाओं से भरे पड़े है। योग पद्धति के विभिन्न रूप रामायण काल में बहुत प्रचलित थे। योगवाशिष्ठ योग का अति महत्वपूर्ण ग्रन्थ रामायण काल से ही सम्बन्धित है। महाभारत महत्वपूर्ण योग विज्ञान का स्त्रोत साहित्य है।प्रसिद्ध श्रीमद्भगवत् गीता का योग निरूपण इसी ग्रंथ का एक भाग है। गीता ज्ञान भक्ति एवं कर्म के मार्गों पर प्रकाश डालती है। योग के इस सर्वाधिक असाधारण ग्रन्थ भगवद्गीता की रचना लगभग 5000 वर्ष पूर्व हुई थी। भगवद्गीता के अनुसार ईश्वर से मिलने के चार मार्ग हैं–

श्रेष्ठ कर्म (कर्म योग), श्रेष्ठ श्रद्धा/उपासना (भक्तियोग), श्रेष्ठ/परिशुद्ध ज्ञान (ज्ञान योग) तथा संकल्प शक्ति योग (राज योग)। भगवद्गीता में 18 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय योग से सम्बन्धित है।

v. प्राचीन काल (सूत्र काल)–दूसरी शताब्दी

पतंजलि का योग सूत्र–195 सूत्र

चार अध्याय– 1. समाधि पाद (51), 2. साधन पाद (55), 3. विभूति पाद (55), 4. कैवल्य पाद (34)

अष्टांगिक मार्ग– इसे राजयोग यानी संकल्पशक्ति का योग कहा गया है। योग सूत्र पर प्रथम भाष्य महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित–व्यास भाष्य है। पतंजलि का योगदर्शन सांख्यदर्शन पर आधारित है। पतंजलि को गोन्दीय, गोणिकापुत्रा, नागनाथ, अहितपति, फणिभृत्, शेषराज, शेषाहि, चूर्णिकार और पदकार आदि नामों से स्मरण किया गया है। पतंजलि विरचित तीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं– सामवेदीय निदानसूत्र, योगसूत्र, और महाभाष्य। सामवेद की एक पातंजलशाखा भी थी, इसका निर्देश कई ग्रंथों में मिलता है। आयुर्वेद की चरकसंहिता भी पतंजलि द्वारा परिष्कृत मानी जाती है। महामुनि पतंजलि ने पाणिनीय व्याकरण पर एक महती व्याख्या लिखी है। यह संस्कृत वाङ्मय में महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है।

पतंजलि काशी में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे। इनका जन्म गोनारद्य (गोनिया) में हुआ था पर ये काशी में नागकूप पर बस गये थे। ये व्याकरणाचार्य पाणिनि के शिष्य थे। काशी वासी आज भी श्रावण कृष्ण नागपंचमी को छोटे गुरु का बड़े गुरु का नाग लो भाई नाग लो कहकर नाग के चित्र बांटते हैं क्योंकि पतंजलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है। पतंजलि संभवतः पुष्यमित्र शुंग (195–142ई.पू.) के शासनकाल में थे। राजा भोज ने इन्हे तन के साथ मन का भी चिकित्सक कहा है।

vi . बौद्ध दर्शन–

बुद्ध ने योग की शिक्षा योग गुरू अरम कलाम और उद्क रामपुत्र से प्राप्त की थी। बुद्ध ने चार आर्यसत्य एवं मध्यम मार्ग की शिक्षा दी। विपाशना भारत की सबसे प्राचीन तकनीक है। विपाशना शब्द का अर्थ है, चीजों को उसी रूप में देखना जैसे वे वास्तव में होती हैं।

vii. जैन दर्शन–

जैन धर्म में प्रत्याहार और ध्यान योग के दो प्रमुख खंड हैं। जैन दर्शन का उपाययोग सम्यक् कर्म, सम्यक् वाणी एवं सम्यक् ज्ञान को प्राथमिकता देता है। साधना के तीन अंग (1) ज्ञान योग (2) इच्छायोग (3) क्रिया योग बताये गये हैं।

viii. स्मृति काल (500 ईपू–1000ई)

स्मृतियों में योग नित्य कर्मों में स्थान रखता है। अभी तक सत्ताइस स्मृति ग्रंथ प्राप्त है तथा प्रकाशित हुये है। इनमें याज्ञवाल्क्य स्मृति, मुन स्मृति, दक्षस्मृति प्रमुख है।

ix. पौराणिक काल (प्रथम ईसवी)

पौराणिक काल में योग विज्ञान का विकास प्रथम ईसवी सदी के आसपास से शुरू होता है। पुराणों में 18 पुराणों को लिया जाता है–

(1) ब्रम्ह, (2) पद्य, (3) विष्णु, (4) वायु, (5) भागवत्, (6) नारदीय, (7) मार्कण्डेय, (8) अग्नि, (9) भविष्य, (10) ब्रम्हतवैवर्त, (11) शिव (12) लिंग, (13) वाराह, (14) वामन, (15) कूर्म, (16) मत्स, (17) गरूड़ और (18) ब्रम्हानंद पुराण

x. मध्यकाल (6ठी शताब्दी)

इस काल की चार धारायें निम्न हैं–

(1) तन्त्र धारा (2) नाथ धारा

(3) भक्ति धारा (4) शंकराचार्य धारा

तन्त्र धारा–तंत्र के आदि स्रोत भगवान शिव हैं। भगवान शिव कहते हैं–

वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

अर्थात् वाम मार्ग अत्यन्त गहन है यह योगियों के लिए भी अगम्य है।

मेरूतन्त्र में कहा गया है कि– जो परद्रव्य के लिये अन्धा है, पर स्त्री के लिए नपुंसक है, परनिन्दा के लिए मूल है और जो इन्द्रियों को सदा अपने वश में रखता है ऐसा ब्राह्मण ही वाम मार्ग का अधिकारी है।

नाथ धारा (हठयोग साधना)–इसमें उच्च आत्मिक अनुभवों के लिए नाथ योगियों द्वारा शरीर का प्रयोग एक साधन के रूप में माना गया। गुरु गोरखनाथ को नाथ सम्प्रदाय का प्रणेता माना जाता है और इस परम्परा में नौ नाथ और 84 सिद्ध हुए हैं।

शंकराचार्य धारा–आदिशंकराचार्य ने योगाचार्य भगवत्पूज्य पादाचार्य से योग साधना की दीक्षा ली एवं अपने योगबल से मात्र 32 वर्ष की आयु में संपूर्ण भारतीय समाज को अंधकार में जाने से रोककर अपने अद्वैत वेदांत के सिद्धांत से पूरे विश्व को बौद्धिक चुनौती प्रदान की थी।

चार मठों की स्थापना–

1. उत्तर (ज्योतिर्मठ– बदरिकाश्रम)– **अयमात्मा ब्रम्ह (अथर्ववेद)**
2. दक्षिण (श्रृगेंरीमठ– रामेश्वरम्)– **प्रज्ञानं ब्रम्ह (ऋग्वेद)**
3. पूर्व (गोवर्धनमठ– जगन्नाथपुरी)– **अहं ब्रम्हास्मि (यजुर्वेद)**
4. पश्चिम (द्वारकाशारदामठ– द्वारिका)– **तत्वमसि (सामवेद)**

xi. पूर्व आधुनिक काल

1. स्वामी दयानंद सरस्वती–आर्यसमाज
2. राजाराममोहन राय–ब्रम्हसमाज
3. स्वामी विवेकानंद–रामकृष्ण मिशन
4. महर्षि रमन एवं परमहंस योगानंद ने लगातार योग विज्ञान का प्रचार–प्रसार भारत के बाहर कर के लोकप्रियता बढ़ाई।
5. महर्षि श्री अरविंद–समग्र योग
6. विवेकानंद–राजयोग की वैज्ञानिकता पर कार्य किया
7. शिवानंद–योग सन्यास परम्परा पर कार्य किया
8. स्वामी कुवल्यानंद–योग की विधियों का वैज्ञानिक उपकरणों एवं तकनीकों से सांमजस्य स्थापित करते हुए प्रयोगों का नया क्षेत्र खोला।

xii. आधुनिक काल में योग

1. **आचार्य श्रीराम शर्मा**–शांति कुंज हरिद्धार
2. **महर्षि महेश योगी–भावातीत ध्यान** भावातीत ध्यान पर विश्वभर में कई वैज्ञानिक शोधकार्य हुऐ हैं। इनकी दो पुस्तके – (1) साईंस ऑफ बींग एण्डं आर्ट ऑफ लिवींग– (2) कोमेंट्री ऑन श्रीमद्भगवद गीता
3. **अर्न्तराष्ट्रीय श्रीकृष्ण भावनामृत संघ–भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद ने अमेरिका से भक्ति योग** का शंखनाद, सम्पूर्ण विश्व में 108 श्रीकृष्ण के भव्य मंदिर बनवायें।
4. स्वास्थ्य मंत्रालय–**योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, दिल्ली**

1.6 योग की परिभाषाएं

1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (योग सूत्र)

पातंजल योग सूत्र के अनुसार अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा चित्त वृत्तियों को बाह्य समस्त विषयों से निरुद्ध कर अपने मूल स्वरूप में शाश्वत रूप से असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में अवस्थित होना योग है।

2. पुं प्रकृत्योर्वियोगेऽपि योगइत्यभिधीयते। (सांख्य दर्शनम्)

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष एवं प्रकृति के पार्थक्य को स्थापित कर पुरुष का स्वरूप में अवस्थित होना ही योग है।

3. योगः संयोग इत्युक्तः जीवात्मपरमात्मनो।। (विष्णुपुराणम्)

विष्णु पुराण के अनुसार जीवात्मा तथा परमात्मा का पूर्णतया मिलन ही योग है।

4. सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।। (भगवद् गीता 2/48)

भगवद्गीता के अनुसार दुःख–सुख, लाभ–अलाभ, शत्रु–मित्र, शीत और उष्ण आदि द्वन्द्वों में सर्वत्र समभाव रखना योग है।

5. तस्माद्योगाययुज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। (भगवद् गीता 2/50)

भगवद्गीता के अनुसार कर्त्तव्य कर्म बन्धक न हो इसलिए निष्काम भावना से अनुप्रेरित होकर कर्त्तव्य करने का कौशल योग है।

6. तं विद्यात् दुःख संयोग वियोगं योग संज्ञितम्।। (भगवद्गीता 6/23)

समस्त दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति तथा उसके साधनों को भी योग कहा जाता है।

7. मोक्खेण जोयणाओ सव्वो वि ववहारो जोगो। (योग विंशिका)

आचार्य हरिभद्र के अनुसार मोक्ष से जोड़ने वाले सभी व्यवहार योग हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने मोक्ष के उपाय रूप को ज्ञान श्रद्धान और चरित्रात्मक कहा है।

8. कुशल चित्तैकग्गता योग।

बौद्धों के अनुसार कुशल चित्त की एकाग्रता योग है।

9. डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार योग का अर्थ है– अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को एक जगह इकट्ठा करना, उन्हें संतुलित करना और बढ़ाना। (भगवद्गीता, राधाकृष्णन्, पृ. 55)।

10. प्रो. रामहर्षसिंह के अनुसार योग का अर्थ मनुष्य के व्यक्तित्व के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक पक्षों का एकीकरण है साथ ही मनुष्य का उसके द्वारा समन्वय योग है।

1.7 योग मार्ग में आने वाले विघ्न

समाधि की स्थिति में अनेक विघ्न आते हैं और ये विघ्न बलपूर्वक आते हैं। योग दर्शन में कहा भी है कि–समाधौ क्रियमाणे तु विघ्रान्यायात्ति वै बलात्। अर्थात् समाधि काल में विघ्न बलपूर्वक आते हैं। समाधि की स्थिति में विघ्न आते हैं और परेशान भी करते हैं। चूंकि समाधि की स्थिति तक साधक यम, नियमादि सात सीढ़ियों को पार करके समाधि जैसी अवस्था को प्राप्त करता है तो यहां प्रश्न हो सकता है कि साधक इसअवस्था तक तो अपने आपको बहुत साथ लेता है फिर ये विघ्न क्यों परेशान करते हैं? यह सत्य है कि इस अवस्था तक साधक अपने आपको समाधानानुकूल बना लेता है। पर मेरा मत यह है कि समाधि की स्थिति में शेष बचे हुय संस्कारों को नष्ट करना होता है। इस अंतिम अवस्था तक वे ही कर्म संस्कार हमारी आत्मा केसाथ चिपके रहते हैं जिनसे मुक्त होना बहुत कठिन होता है। ये ठीक वही स्थिति है जब कपड़े पर कोई धब्बा लग जाता है अैर उसे धोया जाता है तो धब्बा धोने पर हल्का जरूर पड़ जाता है पर पूरी तरह से मिटता नहीं है। उसका निशान अभी भी बना रहता है। यदि इस धब्बे को पूरा साफ करना चाहें तो अधिक शक्ति व ऊर्जा लगानी पड़ेगी। यदि कपड़े को अधिक रगड़ा जाये तो कपड़ा फट भी सकता है। यही स्थिति आत्मा के साथ जुड़े कर्म संस्कारों के साथ है जो उस जिद्दी धब्बे की तरह है जिसे पूरी तरह से साफ करने के लिये साधक को और अधिक साधना या जागरूकता की जरूरत पड़ेगी। ये वो कर्म संस्कार होते हैं जो इस जन्म के ही नहीं पता नहीं कितने पूर्व जन्मों से इस आत्मा को जकड़े हुये हैं। अतः ऐसे कर्म संस्कारों को हटाना जहां कठिन होता है वहीं ये संस्कार अपना रूप बलपूर्वक दिखाते हैं, बलपूर्वक आते हैं और साधना में विघ्न पैदा करते हैं।

महर्षि पतंजलि ने योग के मार्ग में आने वाले विघ्नों के बारे में कहा है–

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि

चित्त विक्षेपास्तेऽन्तरायाः। (समाधि पाद 30)

अर्थात् व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व–ये नौ चित्त के विक्षेप हैं। ये सभी विघ्न कहलाते हैं।

जब जीवन को चलाने के लिये किये हुय आहार से वात, पित्त और कफ की अधिकता अथवा कमी या खाने–पीने से बनने वाले रस में न्यूनाधिकता से मन रहित इन्द्रियों के बल में अधिकता या कमी को व्याधि कहते हैं। इस स्थिति में चित्त वृत्ति उस व्याधि को दूर करने में अथवा उसी में लगे रहने के कारण चित्त या मन योग में प्रवृत्त नहीं हो पाता है। अतः इस प्रकार के विघ्न निवारण के लिए पथ्य–अपथ्य को ध्यान में रखते हुए लघु एवं सात्विक भोजन नियमानुसार लेने पर विघ्न दूर होते हैं। गीता में भगवान कृष्णने कहा भी है– जो अधिक भोजन करता है, जो बिल्कुल बिना खाये रहता है, जो बहुत सोता है, जो बहुत जागता है उसके लिये हे अर्जुन योग नहीं है।

गीता में अगले श्लोक में भगवान कृष्ण कहते हैं–

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (गीता 6/17)

अर्थात् जो नियमपूर्वक भोजन करता है, नियमित विहार करता है, कर्म करने में भी नियमपूर्वक रहता है जागना और सोना भी जिसका नियमपूर्वक रहता है, उसके लिये योग दुःख का नाश करने वाला होता है।

योग साधना की इच्छा होने पर भी देश और काल की विपरीत परिस्थितियों की कल्पना से चित्त की असमर्थता को स्त्यान कहते हैं।

यह वस्तु ऐसी ही है या अन्य प्रकार की है? इस प्रकार के परस्पर विरोधी विचार जब मन में उठते हैं तो उसे संशय कहते हैं। योग सत्य है या नहीं, शास्त्रों के स्वाध्याय से फायदा है या नहीं, योग साधना

की महिमा जो की गई है वह सत्य है या नहीं, योग से मोक्ष की प्राप्ति होती है या और कुछ आदि विरोधी तथा उभयकोटि को विषय करने वाले ज्ञान को संशय समझना चाहिए। योग साधना के लिये प्रयत्न नहीं करना तथा उसमें उदासी रहना प्रमाद है।

जब शरीर में कफ की अधिकता हो जाती है तो शरीर में भारीपन तथा तमोगुण से चित्त के भारी होने से योग साधना में प्रवृत्त नहीं होना आलस्य है।

विषय की निकटता से विषय–स्थित दोषों के अत्यन्त विस्मरण से जब चित्त विषय भोग में लगा रहता है तो उस तीव्र इच्छा को ही अविरति कहते हैं। विषय–भोग या विषय तृष्णा योग मार्ग में सबसे बड़ा विघ्न है। काम की तृष्णा वृत्तियों को अन्तर्मुखी नहीं होने देती है। यदि प्रयत्न से वृत्तियां अन्तर्मुखी हो भी जाती है तो काम–तृष्णा के अल्प स्फुरण से ही चित्त पुनः क्षुब्ध होकर बहिर्मुखी हो जाता है। इसलिये सभी आस्तिक धर्मों में काम विजय को अत्यन्त दुरूह और श्रेष्ठ विजय माना है। स्मृति में भी कहा है कि–

निःसंगता मुक्तिपदं यतीनां संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।

आरूढ़योगोऽपी निपात्यतेऽधः संगेन योगी किमुताल्पसिद्धि।।

अर्थात् यतियों का संग रहित रहना मुक्ति का स्थान है, संग से सारे दोष उत्पन्न होते हैं। योगारूढ़ भी संग से अधोगति को प्राप्त होते हैं, फिर अल्पसिद्धि वाला अपक्व योगी यदि संग से अधोगति को प्राप्त हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

सद्गुरु तथा योगशास्त्रों के द्वारा उपदिष्ट योग साधना में असाधनत्व बुद्धि को भ्रान्तिदर्शन कहा है। समाधि की स्थिति में समाधि का अभ्यास करते हुए भी किन्हीं कारणों से समाधि की उपलब्धि न होना अलब्धभूमिकत्व है।

योग की भूमिका प्राप्त होने पर भी विस्मय या कर्तव्य विस्मरण आदि के द्वारा चित्त का स्थिर न रहना अनवस्थितत्व कहलाता है। इस स्थिति में साधक पहले से प्राप्त भूमिका से स्थिरता को कारण मानकर आगे की सुस्थिरता के लिए प्रयत्न नहीं करता है। इससे आगे की भूमिका प्राप्त नहीं कर पाता है और पूर्व भूमिका से भी वह पथभ्रष्ट हो जाता है।

इन नौ विक्षेपों के अतिरिक्त दुःखादि अनेक विघ्न हैं जो योग के बाधक हैं। महर्षि पतंजलि उनका नाश करने के लिये कहते हैं–

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः। (समाधि 32)

अर्थात् विक्षेप और उसके साथ होने वाले दुःखादि की निवृत्ति के लिए एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए।

योगवशिष्ट में भी कहा है–

तावन्निशीथवेताला वलन्ति हृदि वासनाः।

एकतत्वदृढ़ाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः।।

अर्थात् जब तक एक तत्व के दृढ़ अभ्यास से मन को पूर्णरूप से जीत नहीं लिया जाता तब तक अर्द्ध रात्रि में नृत्य करने वाले बेतालों के समान वासनायें हृदय में नृत्य करती रहती है।

गीता में सात सौ श्लोकों में योग, योगी, युक्त, योगारूढ़, युंजन, युंजीत, योगयज्ञाः, योगसेवया, सांख्योगौ आदि युज् धातु से बने शब्द और उनके साथ समस्त पद 118 बार आये हैं। आत्मा, अहं, बुद्धि और योग ये वे चार शब्द हैं जिनके प्रकार–विकार सबसे अधिक बार गीता में कहे गये हैं।

कुलार्णतन्त्र के द्वितीय उल्लास में लिखा है कि मनुष्य चार श्रेणियों में विभक्त है– क्रियाकाण्ड में अनुरूक्त ब्राह्मण उनको अग्नि में देखा करते हैं। मनीषी अपने हृदय में उनका अनुभव करते हैं। जो अप्रबुद्ध हैं वे प्रतिमा में उन्हें देख पाते हैं और जो आत्मज्ञानी हैं, वे सर्वत्र और सर्वदा उस परम पदार्थ को देख पाते हैं।

योग साधना का उद्देश्य है–काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन षट्रिपुओं का नाश करना। स्त्री भोग की अभिलाषा काम है। जीवों को दुःख देना क्रोध है। धन की अति महत्त्वकांक्षा लोभ है। तत्त्व ज्ञान के अभाव का नाम मोह है। अपने धन, पाण्डित्य का गर्व करना मद है। दूसरों के सुख को देखकर दुःखी होना मत्सर है। ये ही हमारे सबसे बड़े शत्रु हैं और आत्मस्वरूप के दर्शन में बाधक हैं।

1.8 प्राचीन ग्रन्थों में योग की प्रासंगिकता–

योग तत्त्ववेत्ताओं और महर्षियों ने योग साधना की चार स्वतन्त्र शैलियों के बारे में बताया है और योग मार्ग से परमात्मा तक पहुंचने के लिए आठ शैलियां बताई है। चार शैलियां–मंत्र योग, हठयोग, लय योग और राजयोग है तथा आठ शैलियां–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है।

योग का महत्त्व बताते हुए गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योदवि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।

अर्थात् योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ हैं और शास्त्र के ज्ञान वालों से भी श्रेष्ठ माना गया है। अतः हे अर्जुन! तुम योगी होओ।

योग के विभिन्न मार्ग शास्त्रों में उल्लेखित हैं। हठयोग के अन्तर्गत आसन–प्राणायाम आदि के द्वारा प्राणों पर विजय प्राप्त कर चित्त को एकाग्र किया जाता है। ज्ञानयोग में मनन आदि साधना से चित्त को एकाग्र करते हैं। कर्म योग में निष्काम कर्म पर बल दिया जाता है। भक्तियोग में हरिस्मरण के साथ ईश्वर के प्रति श्रद्धा व विश्वास को रखा जाता है।

विश्व में भारत का स्थान अध्यात्म का स्थान है। भारतवर्ष पूरे विश्व का अध्यात्म गुरु रहा है और है भी। योगीजन योग विद्या के बल से अध्यात्म विद्या को प्राप्त करते हैं। योग की प्राचीनता वेदों के समय से है। उपनिषदों में भी योग का विस्तृत वर्णन मिलता है। ऐसे उपनिषद् भी हैं जिनका मूल विषय योग ही रहा है, उन प्रमुख उपनिषदों का हम यहां संक्षिप्त में वर्णन करेंगे–

1. अमृत बिन्दूपनिषद्–इस उपनिषद् में विषययुक्त मन को बन्धन का कारण एवं निर्विषय मन को मुक्ति का द्वार माना है।
2. अद्वयतारकोपनिषद्–इस उपनिषद् में तारक योग का वर्णन मिलता है।
3. अमृतनादोपनिषद्–प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि को षडगंयोग कहा है।
4. तेजोबिन्दूपनिषद्–यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, प्राण संयमन, देह साम्य, हक्स्त्रिति, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि को पंचदशांगयोग कहा है।
5. क्षुरिकोपनिषद्–इस उपनिषद् में भी आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन छः अंगों के बारे में बताया गया है।
6. ब्रह्मविद्योनिपनिषद्–इस उपनिषद् में सुषुम्ना नाड़ी सहित बहत्तर हजार नाड़ियों के बारे में कहा है तथा नाद से मोक्ष की प्राप्ति की बात कही है।
7. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्–इस उपनिषद् में कर्म एवं ज्ञान योग के साथ अष्टांग योग–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के बारे में बताया गया है।
8. ध्यानबिन्दूपनिषद्– इसमें ब्रह्मध्यान योग एवं नादयोग को मुक्ति का मार्ग कहा है।
9. दर्शनोपनिषद्–इस उपनिषद् में यम–नियमादि तथा शरीर की नाड़ियों के बारे में सुन्दर वर्णन किया गया है।

10. नादबिन्दुपनिषद्–नाम के अनुसार नादानुसन्धान के बारे में बताया गया है।
11. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्–इस उपनिषद् में ज्ञान योग के साथ यज्ञों के बारे में बताया गया है।
12. योगकुण्डल्युपनिषद्–यह उपनिषद् कुण्डलिनी एवं मंत्र शक्ति के साथ जीव के मुक्ति का साधन बताता है।
13. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्–इस उपनिषद् में यम, नियम के साथ तारक एवं अमनस्क योग के बारे में बताता है।
14. योगचूड़ामण्युपनिषद्–चक्र, नाड़ी, प्राणायाम के महत्त्व के साथ षड्गंयोग का इसमें वर्णन किया गया है।
15. महावाक्योपनिषद्–इस उपनिषद् में 'हंसःसोऽहम्' जैसे अजपा जप के द्वारा ब्रह्म तत्त्व की प्राप्ति का प्रतिपादन किया है।
16. शांडिल्योपनिषद्–इस उपनिषद् में यम–10, नियम–10, आसन–8, प्राणायाम–3, प्रत्याहार–5, धारणा–5 एवं ध्यान के दो प्रकार बताये हैं।
17. योगतत्वोपनिषद्–इस उपनिषद् में अष्टांग योग का विस्तार से वर्णन किया है।
18. हंसोपनिषद्–यह उपनिषद् हंस विद्या को प्रतिपादित करता है।
19. योगशिखोपनिषद्–इस उपनिषद् में चार प्रकार के योग–मंत्र, लय, हठ एवं राज योग बताये गये हैं जिन्हें चतुर्विध योग कहा है।
20. वराहोपनिषद्–इसमें तीन योगों के बारे में कहा गया है–लय, मंत्र और हठ योग।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे उपनिषदों में योग विषयक सामग्री बहुलता में मिलती है। इन सभी उपनिषदों का मनन करें तो इन सब से योग से सम्बन्धित सभी प्रकार की बातें आ जाती हैं। अतः एक योग के साधक को इन उपनिषदों का अवश्य ही स्वाध्याय करना चाहिए।

विषयों से युक्त मन के बारे में अमृतबिन्दुपनिषद् में कहा है– विषयासक्ति से मुक्त और हृदय में निरूद्ध मन जब अपने अभाव को प्राप्त होता है तब परम पद प्राप्त होता है।

तेजोबिन्दुपनिषद् में मन के बारे में कहा है– यह सब ब्रह्म है, इस ज्ञान से इन्द्रियों का संचय करना ही यम है। इसी का बारम्बार अभ्यास करना चाहिए।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में कर्मयोग के बारे में कहा गया है– विहित कर्मों में इस बुद्धि का होना कि यह कर्तव्य कर्म है, मन का ऐसा नित्य बन्धन कर्म योग है।

इसी उपनिषद् में ज्ञान योग के बारे में कहा है कि– श्रेयोऽर्थ में चित्त का सदा बद्ध रहना ही ज्ञान योग है। यह ज्ञान योग सब सिद्धियों को देने वाला और शिव कारक है।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में अष्टांगयोग के यम, नियम और आसनों का वर्णन निम्न प्रकार से है–

1. यम–यम के दस प्रकार बताये हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार एवं शौच।
2. नियम–नियम के भी दस प्रकार हैं–तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, हरि आराधना, वेदान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत।
3. आसन–आसनों की संख्या कुल 17 बताई गयी है–स्वस्तिकासन, गौमुखासन, वीरासन, पद्मासन, योग मुद्रासन, बद्धपद्मासन, कुक्कुटासन, उत्तानपादासन, धनुरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन, मयूरासन, सिद्धासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्तासन और सुखासन।

योगतत्त्वोपनिषद् में कहा गया है– योग के बिना ज्ञान ध्रुव मोक्ष का देने वाला भला कैसे हो सकता है? उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्म में असमर्थ है।

योग शिखोपनिषद् में कहा है– मंत्र, लय, हठ और राज–ये चार योग यथाक्रम चार भूमिकाएं हैं। चारों मिलकर यह एक ही चतुर्विध योग है जिसे महायोग कहते हैं।

इसी उपनिषद् में राज योग के बारे में कहा गया है–

रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतिः।

अर्थात् रज और रेत के योग से राजयोग होता है।

श्रीमद्भागवत में अष्टांग योग के यम और नियम का वर्णन–

1. यम– भागवत में यमों की संख्या बारह हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंचय (अपरिग्रह), असंग, ह्री, आस्तिकाय, मौन, स्थैर्य, क्षमा और अभय।
2. नियम– नियमों की भी संख्या बारह हैं–शौच–बाह्य, शौच–आभ्यन्तर, तप, सन्तोष, जप, होम, श्रद्धा, आतिथ्य, भगवदर्चन, परार्थचेष्टा, आचार्य सेवन एवं तीर्थाटन।

1.9 उपनिषदों के महत्त्वपूर्ण तथ्य

प्रत्येक वस्तु को ब्रह्म से अभिन्न देखना ही ज्ञान है, मन को निर्विषय करना ही परमात्मा का ध्यान है, मनोमल के नाश को ही स्नान कहते हैं और इन्द्रिय निग्रह का नाम ही शौच है। (स्कन्दोपनिषद्–11)

जब निश्चल मन के द्वारा क्षिप्तमन की चिकित्सा करने से मन की वृत्तियां निरूद्ध हो जाती हैं तभी सुदुर्लभ परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। (योगशिखोपनिषद् 6/62)

जिस क्षण हृदय में भरी हुई सारी कामनायें नष्ट हो जाती हैं उसी क्षण यह मरण धर्मा मनुष्य अमृतत्व लाभ कर लेता है और इसी जीवन में ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है। (बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/7)

जब इस क्षिप्त मन को संकल्प भाव के शस्त्र से शान्त कर दिया जाता है तभी समग्र सर्वगत निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। (महोपनिषद् 4/91)

जिस भाग्यवान पुरुष की आत्मा में रति हो गयी है जिसका मन पूर्ण और शुद्ध है और जिसे अनुत्तम विश्राम प्राप्त हो गया है उसके लिए इस संसार में कोई भी कामना की वस्तु नहीं रह जाती। (महोपनिषद् 2/47)

जो चित्त परमात्मा में निवेशित हो गया है और जिसके सारे मल समाधि के द्वारा धुल गये हैं उसके आनन्द का वाणी द्वारा वर्णन नहीं हो सकता, केवल अन्तःकरण द्वारा अनुभव हो सकता है। (मैत्र्युपनिषद् 6/34)

शास्त्रों में कहा है– तब तक मन का निरोध करे जब तक कि सब वासनायें नष्ट न हो जायें। यही ज्ञान है, यही ध्यान है, बाकी सब ग्रन्थों का विस्तार है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा है– हो वेदान्त ज्ञान द्वारा परमेश्वर को जान चुके हैं और संन्यास तथा योग के द्वारा शुद्ध हो चुके हैं, ऐसे साधक शरीर त्यागकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और वहां परम अमृत का लाभ कर जीवन मुक्त हो जाते हैं।

महर्षि रिव अपने शिष्य निराघ से कहते हैं–

हे निराघ! यह जाग्रत अवस्था की सुषुप्ति अभ्यास साध्य है। यही जब प्रौढ़ हो जाती है तब इसे तत्त्ववेत्ता पुरुष तुरीयावस्था या समाधि अवस्था कहते हैं। (अन्नपूर्णोपनिषद्)

ध्यान के स्थिर हो जाने पर मन ध्येयाकार बन जाता है और अपने स्वरूप को भूल जाता है। इस अवस्था को समाधि कहते हैं। (पा. यो. विभूति–3)

1.10 योग के प्रकार

(क). ज्ञान योग

ज्ञान योग का प्रधान विषय है। वह ज्ञान जिसके द्वारा हमें इस सृष्टि के समस्त पदार्थों एवं जीवों का ज्ञान होता है। प्रकृति एवं पुरुष के भेद को जानकर जिस ज्ञान से परमात्मा के स्वरूप को हम प्राप्त करना चाहते हैं वह ज्ञान योग है। इसे सांख्य योग भी कहते हैं।

ज्ञान योग के साधक ज्ञान के प्रबल जिज्ञासु होते हैं। इसलिये श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है–

किं कारणं ब्रह्मकुतः स्म ज्ञाताः, जीवामः केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।

अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु, वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।।

अर्थात् हे ब्रह्म के जानने वाले भद्र पुरूषों! ब्रह्म का कारण क्या है? किसने हम सबको उत्पन्न किया है? हम सब लोग किससे जीते हैं? अर्थात् हमारा प्राणाधार, प्राणप्रद व जीवन के हेतु का कौन और क्या है? प्रलय काल में हम कहां और किस आधार पर स्थित रहते हैं और किसके नियत किये हुए हम सब प्राणी सुख और दुःख में नियम की पालना करते हैं। अर्थात् हमारे सुख और दुःख के भोगों को प्राप्त कराने की ऐसी व्यवस्था कौन करता है? जिसका उल्लंघन कर कर के हम पराधीनता को भोगते हैं। इस व्यवस्था का नियामक कौन है?

आगे इसी उपनिषद् में बताया गया है कि पुरुष योग बल से ज्ञान को प्राप्त कर अपनी जिज्ञासा को शान्त करता है। सृष्टि की उत्पत्ति के प्रधान आदि को खोजने के लिए ब्रह्मचारी योगी जनों ने ध्यान योग से चित्त की एकाग्रता से प्राप्त समाधि से उस अचिन्त्य ईश्वर के निज गुण करके गुप्त और केवल अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य, सब देवों के देव महादेव उस परमात्मा की आत्मशक्ति को ज्ञान–दृष्टि से निश्चय अनुभव करके पहचाना कि मुख्य कारण तो वही एक जो सब में आत्माओं का आत्मा अनन्त शक्ति और सामर्थ्य वाला परमात्मा तथा उसकी शक्ति है जो स्वयं एक अकेला ही कालादि जीवन्त उन सब कारणों का अधिष्ठाता है।

ज्ञान योग के बारे में शंकराचार्य के गीता के 18वें अभ्यास के 50वें श्लोक की व्याख्या के अंत में बताया है–

तस्माज्ज्ञाने यन्त्रो न कर्तव्यः किं त्वनात्मबुद्धिनिवृत्तावेव, तस्माऽज्ञाननिष्ठा सुसम्पाद्या।

निष्काम कर्म योग, भक्ति योग, अष्टांगादियोग, ध्यानादि अनन्त योग इत्यादि सब तरह के योग ज्ञान योग के ही अंग हैं। इन अंगों की सहायता से आत्मस्वरूप ज्ञान के प्रति बन्धक अज्ञान के आवरण को दूर करना चाहिए और गुरु द्वारा प्राप्त महावाक्य की सहायता से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और मुक्त होना चाहिए।

चूंकि साधक को आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती, आत्मा तो प्रतिक्षण अन्तःकरण में अभिव्यक्त है। किन्तु बुद्धि के अन्दर भेद की सत्यता का निश्चय है जिसके कारण जीव को पूर्ण आत्मा का ज्ञान नहीं और जब तक पूर्व आत्मा का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक जीव संसार से मुक्त नहीं हो सकता।

ज्ञान योग में कहा गया है कि–

'येनात्मैवात्मना जितः'

अर्थात् आत्मा को आत्मा से जीते, मन को मन से जीते। पंचमहाभूतों से निर्मित यह शरीर नष्ट हो जाने वाला है। आत्मा अविनाशी कभी नष्ट नहीं होने वाली है। साधक अहं ब्रह्मास्मि का निरन्तर अभ्यास करते हुए अपनी वृत्तियों पर विजय प्राप्त करे।

वृत्तियां चंचल होती हैं अतः वृत्ति जिधर जाती है साधक उधर न जाये केवल उन वृत्तियों को देखें। इस अभ्यास से अपने आप अपने अन्दर ही विलीन हो जाती है। पीछे केवल आप अर्थात् चैतन्य रह जाता है। अतः साधक को हर काम में जागरूकता रखते हुए सभी कर्मों को करते हुए भी अपने निज स्वरूप में लीन रहना चाहिए। ऐसे साधक अन्त में निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करते हैं।

परमात्मा प्राप्ति का उत्तम साधक ज्ञान योग को माना गया है। ज्ञान से ही परम शिवत्व की प्राप्ति हो सकती है। श्रुतियों में भी इस एकमात्र ज्ञान को जानने वाले के बारे में कहा गया है कि–

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मु. उ.)

अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला नित्य मुक्त ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति

नान्यः पन्था विद्यतेऽनाय।। (श्वेता. उ.)

अर्थात् आत्मा को परमात्मा से अभिन्न जानना ही मोक्ष का साक्षात् साधन है, परमात्मप्राप्ति रूप पुरुषार्थ के लिए इसके अतिरिक्त और कोई साधन है ही नहीं।

जिन अधिकारियों का आत्मविषयक अज्ञान ज्ञान से नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान सूर्य के समान उस वेदान्त प्रसिद्ध परम तत्त्व को प्रकाशित कर देता है। आत्म ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञानी पुरुष तत्काल ही आत्मा की स्वरूपभूत निरतिशय शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

यदि इस संसार में दुःख का कारण अज्ञान है तो इसको दूर करने का उपाय न तो भक्ति में है और न ध्यान में और न ही कर्म में है। इस अज्ञान को केवल ज्ञान से ही दूर किया जा सकता है। अतः परब्रह्म की उपाय की उत्तम साधन ज्ञान ही है।

मनुष्य मात्र के अन्दर जब तक ''मैं कर्त्ता हूँ'' मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं महान हूँ, पाप–पुण्य, लोक–परलोक, तेरा–मेरा आदि मिथ्या ज्ञान में रहेगा तब तक मनुष्य बन्धन मुक्त नहीं हो सकता।

वासुदेव मनन में कहा है कि–

यत्र तत्र शरीर परिग्रहस्त्र तत्र दुःखम्।

अर्थात् जहां–जहां शरीर धारण करना पड़ता है, वहां–वहां दुःख है।

छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा है–

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियप्रिययोरपहतिस्ति।

अर्थात् देह धारण की अवस्था में प्रिय–अप्रिय विषयों के ग्रहण से होने वाली व्याकुलता कभी भी न मिटती।

भगवान गौतम न्याय सूत्र में कहते हैं–

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

अर्थात् भ्रान्ति रूप मिथ्या ज्ञान से पहले राग–द्वेष आदि चित्त के दोष प्रकट होते हैं, उनसे धर्माधर्म में प्रवृत्ति होती है, धर्माधर्म में प्रवृत्ति से ही देव, मनुष्य आदि योनियों में जन्म होता है और उससे दुःख होता है। अतः इन सबके पीछे कारण मिथ्या ज्ञान है, अर्थात् समस्त दुःखों का मूल कारण अज्ञान है।

मिथ्या ज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति।

अर्थात् ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान हुए बिना इस जन्म, जरा मृत्यु और दुःख रूप अज्ञानजन्य संसार का किनारा सौ करोड़ कल्पों में भी नहीं हो सकता। अतः इस अज्ञान रूपी वृक्ष को नष्ट करने का एकमात्र उपाय है–ज्ञानयोग।

सूरेश्वराचार्य ने कहा है कि– आत्मा के परम तत्त्व को न जानने से ही नियम एवं नियामक भाव की उत्पत्ति होती है। सम्यक् ज्ञान के द्वारा अज्ञान के दूर हो जाने पर यह संसारी आत्मा हिरण्यगर्भ आदि ईश्वर का भी ईश्वर हो जाता है।

जीव है, जगत है, ईश्वर है, प्रकृति है, पुरुष है आदि जितने भी विचार हैं वे सब माया के कारण हैं। जिससे जीवन परम परमात्मा को प्राप्त नहीं कर पाता है। पर तत्त्वज्ञान से सारे भेद और विचार समाप्त हो जाते हैं। जीव उस परम तत्त्व की पहचान कर अपनी शुद्ध आत्मा में रमण करता है।

महाभारत में कहा है– पहले किये हुए पापों का क्षय हो जाने पर ही सम्यक् रूप से पुरुषों को तत्त्व ज्ञान होता है। कीचड़ धुल जाने पर अत्यन्त विमल दर्पण में जिस प्रकार अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है उसी प्रकार अपनी विमल बुद्धि में पुरुष अपने आत्मा को अपरोक्ष रूप से उपलब्ध करता है।

ज्ञान योग से अज्ञान का आवरण हटता है। बुद्धि का विकास होता है और आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है। ज्ञान योग का साधक मुक्ति के लिए चार जिन साधनों का विकास करता है वे हैं–विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) और मुमुक्षुत्व।

1. विवेक–विवेक का अर्थ है– वस्तु के यथार्थ स्वरूप को अन्य किसी मिश्रण से पृथक् करके देखना। विवेक का मूल है समाधि और सत्पुरुषों का संग। सत्पुरुषों के संग से विवेक अर्थात् सत्यासत्य, धर्माधर्म कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करें, पृथक्–पृथक् जानें। ज्ञानपूर्वक सत्यासत्य को जानकर उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना विवेक है– जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव से जानकर उस की आज्ञा पालन और उपासना में तत्पर होना, उस से विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना विवेक कहलाता है।

2. वैराग्य–दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। दृष्ट–वर्तमान जीवन में देखे हुए या अनुभव किये हुए, अनुश्रविक सुने हुए जैसे–स्वर्ग, वैदेह, प्रकृतिलयत्व इत्यादि, इन देखे और सुने हुए समस्त विषयों से वितृष्ण अर्थात् आसक्ति रहित हो जाना वैराग्य है। अर्थात् दिव्यादिव्य विषयों के उपस्थित होने पर भी उनमें दोष दर्शन करना तथा अनासक्त भाव से उनका सदुपयोग करना वैराग्य है।

3. षट्सम्पत्ति–विवेक और वैराग्य के फलस्वरूप साधक को छः विभागों वाली परम सम्पत्ति प्राप्त होती है। जब तक यह पूरी न मिले समझना चाहिए की अभी विवेक और वैराग्य में कमी है। इसके छः विभाग निम्न है–

अ. शम–मन का पूर्णरूप से निगृहीत, निश्चल और शांत हो जाना ही शम है।

ब. दम–इन्द्रियों का पूर्णरूप से निगृहित और विषयों के रसास्वाद से रहित हो जाना दम है।

स. उपरति–विषयों का चित्त से उपरत हो जाना ही उपरति है। यह उपरति भोगमात्र से केवल बाहर से ही नहीं, भीतर से भी होनी चाहिए। भोगसंकल्प की प्रेरणा से ब्रह्मलोक तक के दुर्लभ भोगों की ओर भी कभी वृत्ति की न जाय, इसका नाम उपरति है।

द. तितिक्षा–द्वन्द्वों को सहन करने का नाम तितिक्षा है। द्वन्द्व जगत से ऊपर उठकर, साक्षी होकर द्वन्द्वों को देखना। यही वास्तविक तितिक्षा है। ऐसा होने पर सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान विचलित नहीं कर सकते।

य. श्रद्धा–आत्मसत्ता में प्रत्यक्ष की भांति अखण्ड विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। पहले शास्त्र, गुरू और साधन आदि में श्रद्धा होती है, उससे आत्मश्रद्धा बढती है। परन्तु जब तक आत्मस्वरूप में पूर्ण श्रद्धा नहीं होती, तब तक एकमात्र निष्कल, निरंजन, निराकार, निगुर्ण ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर उसमें बुद्धि की स्थिति नहीं हो सकती।

र. समाधान–मन और बुद्धि का परमात्मा में पूर्णतया समाहित हो जाना ही समाधान है, अर्थात् मन और बुद्धि का निरन्तर एकमात्र लक्ष्य वस्तु ब्रह्म के ही दर्शन होते रहना।

4. मुमुक्षत्व–मोक्ष की प्रबल इच्छा, संकल्प व साधना का नाम ही मुमुक्षत्व है। मोक्ष का अर्थ है त्रिविधदुःख से अत्यन्त निवृत्ति। सत्पुरुषों के संग और समाधि से विवेक की प्राप्ति होती है। विवेक से वैराग्य उत्पन्न होता है तथा परवैराग्य से मोक्ष की प्राप्ति होती है। योग दर्शन के अनुसार सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रास्य सर्वभावाध्ष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। बुद्धि और पुरुष की भिन्नता जानने वाले योगी को अनेक पदार्थों का स्वामित्व तथा अपने आप से सम्बन्धित अर्थात् आत्म सम्बन्धित सर्वज्ञता प्राप्त होती है। योगी के इस ज्ञान को 'विवेकज ज्ञान' कहते हैं। क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्। क्षण और उसके क्रम में संयम करने से यह विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है। यह 'विशोका' नाम की सिद्धि है। जिसको प्राप्त करके योगी आत्मज्ञानी, 'क्षीणक्लेशबन्धन' वाला होकर विचरता है। तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। उस विशोका नामक सिद्धि से भी वैराग्य होने से अविद्या आदि क्लेश बीजों के नष्ट हो जाने पर कैवल्य अथवा मोक्ष हो जाता है, यही मुमुक्षत्व की उपरति या लक्ष्य प्राप्ति है।

ज्ञान योग में स्वाध्याय का बहुत महत्त्व है। साधक वेद, उपनिषद् आदि श्रुतियों को सुनता है फिर उनका मनन कर निदिध्यासन करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि–

आत्म वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्योनिदिध्यासितव्यश्चेति।

अर्थात् जो आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करता चाहते हैं उन्हें धैर्यपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, तप–ब्रह्मचर्य–विद्यापूर्वक श्रवण–मनन व निदिध्यासन का सतत् अभ्यास करना चाहिए, सतत अवलम्बन लेना चाहिए।

■ **श्रवण–** जब कोई विद्वान् उपदेश करे तब प्रशान्त व प्रसन्नमन होकर, ध्यान देकर सुनना, विशेष रूप से ब्रह्म विषय के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिये कि यह सब विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है।

■ **मनन–** एकान्त देश में बैठ कर सुने हुए का विचार करना। जिस बात में शंका हो पुनः पूछना और सुनते समय भी वक्ता और श्रोता उचित समझे तो पूछना और समाधन करना। जैसे पशु आदि खाये हुए अहार की जुगाली करके उसे अधिक सुपाच्च बना लेते हैं वैसे ही बुद्धिमान को चाहिये कि वह सुने हुए विषय का विशेष मनन करे।

■ **निदिध्यासन–**जब सुनने और मनन करने से निःसन्देह हो जायें तब समाधिस्थ हो कर उस बात को देखना समझना कि वह जैसा सुना था विचारा था वैसा ही है या नहीं? ध्यानयोग से देखना निदिध्यासन है।

ज्ञान योग की सात भूमिकाएं हैं–शुभेच्छा, सुविचार, तनुमानसी, सत्वापत्ति, पदार्थाभावनी और तुरीय।

साधक इन सात भूमिकाओं पर आरूढ़ होकर सर्वप्रथम सविकल्प समाधि को प्राप्त करता है। अंत में वह अद्वैततावस्थान रूप (वृत्तिरहित) समाधि को प्राप्त कर आत्म–साक्षात्कार करता है।

ज्ञान योग ज्ञान की प्रधानता लिए हुए हैं। इस योग में साधक स्थूल शरीर से लेकर सूक्ष्म शरीर तक की यात्रा करता है अथवा उसका ज्ञान प्राप्त करते हुए देह और आत्मा की भिन्नता का अनुभव करता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लए साधक को ज्ञान की सात भूमिकाओं को पार करना पड़ता है। ये सात भूमिकायें निम्न प्रकार से हैं–

1. शुभेच्छा– विवेक–वैराग्य की स्थिति
2. विचारणा–श्रवण–मनन की अवस्था
3. मनु मानका–इस बात का ज्ञान होना कि पंच तत्त्वों से युक्त देह अनित्य और आत्मा नित्य शुद्ध–बुद्ध है।
4. सत्त्वापति– अहं ब्रह्मास्मि अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूं, इस धारणा को मजबूत करना।
5. असंसक्ति–प्राप्त होने वाली सिद्धियों के प्रति अनासक्ति।

6. पदार्थभाविनी– अहं ब्रह्मास्मि भी एक अहं वृत्ति है, इसका भी तप हो जाना।

7. तुर्यगा–आत्मस्वरूपता।

अतः साधक को इन सात भूमिकाओं को पार करके विक्षिप्तता, गतायाता, संश्लिष्टता और सुलीनता–इन चार अवस्थाओं तथा लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद– इन चार विघ्नों को पार करके केवल निरावलम्बन की अवस्था में रहने को कहा गया है।

मनुष्य को इस जीवन बन्धन से मुक्त होने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है और ज्ञानी होने के लिए योग की आवश्यकता हमारे शास्त्रों में बताई गई है– जो बात व्यासजी ने करोड़ों श्लोकों में समझायी है वही बात मैं तुम्हें आधे श्लोक से समझाता हूं। ममत्व ही दुःख का मूल है और निर्ममत्व ही अत्यन्त सुख है। निर्ममत्व से वैराग्य होता है, वैराग्य से योग की प्राप्ति होती है और योग से ज्ञान और ज्ञान से मनुष्य मुक्त हो जाता है।

स्कन्दपुराण में लिखा है–

आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात् तच्च योगादृते नहि।

अर्थात् आत्मज्ञान से मुक्ति होती है और वह ज्ञान योग के बिना दुर्लभ है।

कूर्मपुराण में भी कहा है– योगरूप अग्नि शीघ्र निखिल पाप पंजर पुंज को दग्ध कर देता है। उस पाप के दग्ध होने से प्रतिबन्ध रहित ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से निर्वाण संज्ञक मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आत्मा से मोक्ष नहीं होता, आत्मज्ञान से होता है। मनः स्वास्थ्य–स्वभावी शान्त मनुष्य का स्वास्थ्य निश्चिन्त रहने का जो अभ्यास है उसके अनुसार उसी स्वस्थता और निश्चिन्तता में शरीर शुद्धि और मन की पवित्रता सम्पादन के लिए उन्नति करते हुए मोक्ष सुख में रत करने का जो मार्ग है वह ज्ञान योग है।

महर्षि वशिष्ठ कहते हैं– चित् की चंचल वृत्तियों को नष्ट करने के दो उपाय योग और ज्ञान हैं। योग का आशय है– चित्त की वृत्तियों का निरोध करना और ज्ञान का तात्पर्य है आत्मा और परमात्मा के सच्चे स्वरूप का अनुभव करना। इनमें से किसी के लिये योग कठिन होता है और किसी के लिये ज्ञान। इसलिये परमेश्वर ने मनुष्यों के हितार्थ दोनों मार्ग प्रकट किये हैं।

गीता में भी कहा है कि जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि काठ को भस्म कर देती है, ठीक उसी प्रकार ज्ञान रूपि अग्नि सब कर्मों को, पापों को भस्म कर देती है। आगे कहा है कि जिस मनुष्य के सब पाप नष्ट हो गये हैं जिनकी द्विविधा मिट गयी हैं और जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत है, वे निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त होते हैं तथा जो काम, क्रोध से रहित हो चुके हैं जिनका मन अपने वश में है और जिन्हें तत्त्व ज्ञान हो गया है ऐसे साधक अपने जीवनकाल में और मृत्यु के बाद निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

सर्वभूतस्थमात्मनं सर्वभूतानि आत्मनिः।

अर्थात् जो आत्मा को सम्पूर्ण प्राणियों में और सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मा में देखता है।

गीता में कहा गया है कि साधक की बुद्धि जब परमात्मा में अचल और स्थिर हो जाती है तब वह योग को प्राप्त हो जाता है। साधक को समत्व रूप योग में लग जाना चाहिए क्योंकि समता प्राप्त ज्ञानी इन सभी बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। स्थितप्रज्ञ पुरुष का लक्षण बताते हुए कहा है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष को दुःखों की प्राप्ति होने पर भी मन में उद्वेग नहीं होता है और सुखों की प्राप्ति में सर्वथा निःस्पृह रहते हैं। भय, राग और क्रोध से मुक्त रहते हैं। स्थितप्रज्ञ पुरुष शुभ–अशुभ वस्तु को पाकर न तो प्रसन्न होते हैं और न ही अप्रसन्न होते हैं। जिस प्रकार कछुआ सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुष इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को हटा लेता है। गीता के अनुसार ज्ञानयोग की सबसे बड़ी विशेषता समत्वयोग है। समत्व योग के तीन स्वरूप निम्नांकित है–

1. आत्मगत समत्व
2. वस्तुगत समत्व
3 गुणातीत समत्व

गीता के अनुसार ज्ञान योग के तीन प्रमुख स्वरूप है –

1. ब्रह्ममयी दृष्टि–सारी सृष्टि ब्रह्ममय है। ऐसा ज्ञान होना ज्ञानयोग है।
2. मायात्मक जगत –जो कुछ दृश्यमान है वह माया है, क्षणिक है, विनाशी है।
3. प्रतीयमान विश्व–ब्रह्म ही आत्मा है। अतः संपूर्ण विश्व आत्मरूप है।

ज्ञान योग साधक की विशेषताएं–

1. ज्ञान योग साधक इस भव सागर को ज्ञान की सरिता में तैरकर पार करता है।
2. साधक आत्मनिर्भरता एवं आत्मबल के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है।
3. ज्ञान योग का साधक अपने स्वरूप को पहचानकर अपने अहंकार को विलय कर देता है।
4. साधक अपने ज्ञान रूपी शक्ति पर अटल रहकर ईश्वरत्व की प्राप्ति करता है।
5. ज्ञान हर कर्म में अपनी साधना को बनाये रख सकता है, उसे किसी आसन, स्थान आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती है।
6. ज्ञान योगी हमेशा समाधि में अवस्थित रहता है।
7. ज्ञान योग का साधक ज्ञान के प्रभाव से जल्दी से माया से वशीभूत नहीं हो पाता है।
8. ज्ञानी वृत्तियों का निरोध न करके वे उनके साक्षी बन जाते हैं।
9. ज्ञानयोगी अपने अन्तःकरण से ब्रह्मकार वृत्ति उत्पन्न्न करता है।
10. ज्ञानी अपनी संकल्पशक्ति से सिद्धियों को प्रकट करते हैं।
11. ज्ञान योग साधक की साधना उसकी बुद्धि और इच्छा शक्ति के अभ्यास पर निर्भर करती है।

ज्ञानयोग का उपदेश :–

1. संसार को असार तथा आत्मा को परमात्मा का अंश समझना ज्ञानयोग है।
2. यह दृश्य जगत् माया है, मृगतृष्णा है, स्वप्न की सृष्टि है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।
3. ब्रह्म एक ही है, शुद्ध ज्ञान स्वरूप है, संसार का नानात्व मिथ्या है। एक तत्व ही सत् है।
4. संसार में सब कुछ आत्म रूप है, ब्रह्मस्वरूप है। यह एकतत्व दर्शन ही ज्ञानयोग का स्वरूप है। जो योगी यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसे योग युक्तत्मा या ब्रह्मयोग युक्तात्मा कहते है।
5. ज्ञान योगी ''समदर्शी'' होता है।

(ख). भक्ति योग (अनन्य योग)

''भक्ति'' शब्द 'भज' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है भजन करना या सेवा करना। भक्ति या सेवा के द्वारा भगवान से संबंध स्थापित करने का नाम भक्ति येाग है। महर्षि नारद के अनुसार 'भगवान' के प्रति उत्कृष्ट प्रेम ही भक्ति है। महर्षि शाण्डिल्य के अनुसार ''यह परमात्मा के प्रति सर्वोच्च अभिलाषा है।'' जिसमें भगवान का आश्रय लिया जाता है, भगवान को अपने हृदय में बसा लिया जाता है, भगवान की शरण में जो चला जाता है वही अवस्था भक्ति योग है। कहा भी है–

गंगा प्रवाह की गति जिस तरह समुद्र की ओर अप्रतिबद्ध और स्वाभाविक होती है, इसी प्रकार मेरे गुणों को सुन, मुझ सर्व व्यापक में मन की जो अविच्छिन्न गति होती है, वही भक्ति योग का लक्षण है।

भक्ति योग का तात्पर्य यह नहीं है कि थोड़ी देर के लिए प्रभु का नाम ले लिया, भजन कर लिया। भक्ति योग का अधिकारी कौन हो सकता है। इसके लिए भगवान कृष्ण कहते हैं–

जो पुरुष व्यभिचार रहित भक्ति योग के द्वारा मेरी (भगवान) सेवा करते हैं वह प्राकृतिक गुणों को पार करके ब्रह्म भाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है। ब्रह्मभाव को प्राप्त कर उसकी आत्मा प्रसन्नता को प्राप्त हाती है। न वह सोच करता है और न आकांक्षा करता है। वह सब भूतों में समानता का भाव रखते हुए मेरी परम भक्ति को प्राप्त करता है।

अतः वही साधक भक्ति–मार्ग का अधिकारी होता है जो सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझता है।

भक्त के मन में भक्ति के बीज तभी उत्पन्न होते हैं जब भक्त का मन निरन्तर भगवान में लगे रहने का अभ्यस्त हो जाये। अर्थात् लगातार भगवान के स्मरण का अभ्यास भक्त हृदय में भक्ति के पवित्र बीज अंकुरित कर देता है। यह चित्त की एक ऐसी पवित्र धारा है जो हमेशा सद्चित्तआनन्द की ओर बहती है। इसलिये श्रीमद्भागवत में भक्ति के इस पवित्र प्रवाह को मन्दाकिनी की उपमा से नवाजा है। आचार्य मधुसुदन कहते हैं कि भक्ति में वह शक्ति है जो कठोरतम हृदय को पिघला देती है। भक्ति का प्रभाव हृदय को कोमल बनाकर उसे प्रसारित कर देता है। प्रसारित हृदय एक दिव्य आनन्द से सराबोर हो जाता है। हृदय की सारी ग्रंथियां पिघल जाती है।

सभी ग्रंथों में भक्ति के श्रेष्ठ ग्रंथों में गीता का नाम सर्वमान्य है। गीता में गीता के एक अभ्यास का नाम भी भक्ति योग है। गीता में भक्ति की चार श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। उनमें वह श्रेणी सर्वोत्तम बताई गई है जिससे भक्त अपना सबकुछ भगवान को समर्पित कर देता है।

श्रीमद्भागवत में भक्ति को मन की एक स्वाभाविक वृत्ति कहा है और कहा है कि ये किसी कारण विशेष या पूर्वकल्पित हेतु से उत्पन्न नहीं होती है।

श्रीकृष्ण के प्रति अहैतुकी भक्ति को श्रीभागवत में सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है।

श्रीमद्भागवत में प्रेम से ओतप्रोत भक्ति का वर्णन बहुत मिलता है। इस परम पावन प्रेम की भक्ति ब्रजबालाओं की भगवान के प्रति इतनी प्रगाढ़ रूप में प्रकट हुई है कि स्वयं भगवान कहते हैं कि–

निर्मल प्रेम की ध्वजास्वरूपिणी आप महानुभवों के उपकार से मैं देवताओं की आयु में भी उऋण नहीं हो सकता। जो बड़ी कठिनाई से टूटने वाले पाश को तृण की तरह तोड़कर मेरी शरण में आयी हो, इस त्राण को तो आप ही दया करके माफ कर दें तो भले ही उससे मैं मुक्त हो जानूं, अन्यथा उसके छुटने का कोई उपाय नहीं है।

आचार्य रामानुज ने भी भक्ति को ज्ञान का श्रेष्ठ अंश कहा है।

भक्तिशास्त्र में भक्ति और प्रेम समानार्थक शब्द है। कई साहित्यों में भक्ति या प्रेम के स्थान पर 'प्रीति' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। विष्णु पुराण का यह श्लोक जिसमें भक्ति के स्थान पर प्रीति शब्द का प्रयोग हुआ है–

अविवेकी पुरुषों की विषयों में जैसी निश्चल प्रीति होती है, तुम्हें स्मरण करते हुए मेरी वैसी ही प्रीति तुम्हारे अन्दर सदा बनी रहे, क्षणमात्र के लिए भी हटे नहीं।

यह स्पष्ट है कि अनुराग के अभाव में भक्ति असंभव है। बिना अनुराग (प्रेम) के आनन्द की प्राप्ति संभव नहीं है। भक्ति का भी अंतिम परिणाम प्रेम ही है। कर्म योग एवं ज्ञान योग की अपेक्षा भक्ति का मार्ग सुगम एवं आनन्ददायक माना है। भक्तियोग को अन्य योगों की अपेक्षा उत्तम एवं प्रधान माना है क्योंकि

भक्ति योग शीघ्र ही साधक को ऊंचा उठाते हुए परमतत्त्व के निकट लाता है। बदरीशस्तोत्र में कहा भी है कि–

हे भव बाधा को मिटाने वाले ईश्वर, आप भक्त वत्सल प्रभु के चरणों में की हुई भक्ति जिस प्रकार साधक को अनायास ही उन्नति की ओर ले जाती है उस प्रकार इस लोक में कोई कर्म अथवा राजयोग पुरुष को अनायास और शीघ्र ही उन्नत पद पपर नहीं ले जा सकते। स्वयं भगवान ने कहा है–

न मे भक्तः प्रणश्यति।

अर्थात् मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।

बदरीशस्त्रोत में ही कहा है– भगवान के सगुण–साकार स्वरूप में की हुई भक्ति अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चित्त शुद्धि का कारण होती है। अतः सभी मुमुक्षुओं को चाहिए कि निरन्तर उस भक्ति का उाार्जन करें क्योंकि परमेश्वर के चरणों में जिसने सर्वथा अपना चित्त समर्पण कर दिया है उसका कभी नाश नहीं होता। जो भक्तवत्सल भगवान इस लोक और परलोक दोनों को विनष्ट करने वाली सभी आपदाओं से अपने भक्त की सदा ही रक्षा करते हैं उस ऐसे बदरीनाथ का हे मन! तू निरन्तर स्मरण कर।

गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं– मुझ में सदा चित्त लगाये रहने के कारण जो लोग अनन्य प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं उन्हें मैं शीघ्र ही परम तत्त्व ज्ञान रूप योग देता हूं जिसके द्वारा मुझ नित्यानन्दैकरस निर्विशेष अद्वय परमब्रह्मा को प्राप्त कर लेता है। उन भक्तों पर दया करके मैं प्रत्यगात्मा रूप से उनके अन्तःकरण में रहता हुआ अत्यन्त प्रकाशमय ज्ञानात्मक प्रदीप से उनके अज्ञानजन्य आवरण को नष्ट कर देता हूं। भगवान की भक्ति का सर्वोत्तम साधन भक्ति मार्ग है। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्ति योगतः।

भगवन्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते।।

अर्थात् भगवान की अनन्य भक्ति करने से जिसका चित्त निर्मल हो गया है और चित्त शुद्धि हो जाने से ही जिसकी विषयों में लेशमात्र भी आसक्ति नहीं है ऐसे पुरुष को ही भगवान के पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान हो सकता है, अन्य किसी साधन से किसी प्रकार नहीं हो सकता।

भाष्यकार शंकराचार्य भक्तिमार्ग का खण्डन करते हैं। उन्होंने वैष्णवों को भक्ति प्रक्रिया का तो तिलशः खण्डन किया है फिर भी शंकराचार्य स्वयं भक्ति को तत्त्व ज्ञान का साधन मानकर स्वरचित भाष्य में लिखते हैं–

अव्यक्त से भी पर और स्वयं ही नाना प्रकार के व्यूहों में स्थित रहने वाले सर्वात्मा परमेश्वर देव भगवान नारायण के मन्दिर में जाना पूजा आदि के लिए उपयुक्त सामग्रियों को लेकर उनकी पूजा करना, अष्टाक्षर मंत्रों का जप, कीर्तन और ध्यान आदि जो यजन कर्म वैष्णव–शास्त्रों में निरन्तर अनन्यभाव से विधान किये जाते हैं उनका हम निषेध नहीं कररते, क्योंकि श्रुतियां और स्मृतियां एक स्वर से शरीर, मन और वाणी के द्वारा ईश्वर की विशेष भक्ति का उपदेश करती है।

योगसूत्र में भी कहा है–

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' 'तस्य वाचकः प्रणवः'

'तज्जपस्तदर्थभावनम्'

अर्थात् परमेश्वर में किये जाने वाले कायिक, वाचिक और मानसिक प्रणिधान–भक्ति विशेष से संतुष्ट होकर ईश्वर अपने भक्त पर अनुग्रह करते हैं। अतः पाप आदि कारणों से होने वाले विघ्न और प्रतिबन्धों के अभाव हो जाने से उस भक्त को थोड़े ही समय में समाधि और उसके फल की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

क्रियायोग का तीसरा भाग ईश्वरप्रणिधान है। ईश्वर की अनन्य भक्ति–मन, वाणी और शरीर से की

जाने वाली समस्त क्रियाओं को उसके समर्पित कर देना, उनका कोई लौकिक फल न चाहना। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, धन–सम्पत्ति आदि समस्त पदार्थों को उसका मानकर, उसको समर्पण कर देना, उसी की आज्ञानुसार उन सभी पदार्थों का प्रयोग करना, उसको समस्त पदार्थों से प्रिय समझना, अपना पिता, माता, आचार्य, उपास्य, राजा समझना। शब्द प्रमाण से उसके स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानकर उसके मुख्य नाम ओम् का अर्थ सहित जप करना ईश्वप्रणिधान है।

प्रणिधान अर्थात् भक्ति विशेष से प्रसन्न किया गया ईश्वर योगी को संकल्प मात्र से अनुगृहीत करता है। उसके संकल्प मात्र से योगी को समाधिलाभ और समाधिपफल शीघ्रतम प्राप्त हो जाते हैं।

सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव से स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसी के लिये शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियों में समभाव वाला योगी मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है।

उस पराभक्ति के द्वारा वह मुझ परमात्मा के द्वारा वह मुझ परमात्मा को, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक

वैसा–का–वैसा तत्त्व से जान लेता है तथा उस भक्ति से मुझ को तत्त्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

इस कलयुग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, कुण्डलिनी जागरण आदि द्वारा समाधि प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त दुष्कर, कठिन एवं विघ्नों से भरा हुआ है। अत्यधिक परिश्रम साध्य एवं मार्ग से भटकने का भय हमेशा बना रहता है। इसके विपरीत भक्ति मार्ग बहुत ही सरल, सुलभ, परिश्रम और विघ्नों से रहित है। भक्ति का मार्ग शीघ्र ही फल देने वाला है। इसलिये व्यासजी ने कहा है–

अन्य युगों में तपस्या, योग और समाधि से भी जो फल प्राप्त नहीं होता, वही फल कलयुग में मनुष्य केवल भगवान का नाम–कीर्तन करने से पा लेता है।

यह सत्य भी है कि कलयुग का मनुष्य बिना परिश्रम, बिना यम–नियम के समाधि को प्राप्त करना चाहता है, समाधि प्राप्ति वाले भी इक्के–दुक्के मिलेंगे। आज का मनुष्य तो स्वार्थवश सिद्धियों को प्राप्त कर सुख का भोग एवं चमत्कार में रुचि रखने वाला है। आज हम यम–नियम को भूलाकर आसन, प्राणायाम से सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं। सीधे चक्रों का जागरण कर कुण्डलिनी शक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं जो असंभव है। साथ ही आज का खान–पान, रहन–सहन और व्यवहार राजयोग कुण्डलिनी योगादि के अनुकूल नहीं रहा है। इस कलयुगमें निष्काम कर्म की कल्पना भी करना केवल मूर्खता है। अतः इस कलयुग में ईश्वर प्राप्ति का मार्ग भक्ति मार्ग ही हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

भक्ति योग से विक्षेप दूर होते हैं और हृदय कमल का विकास होता है।

जिन मनुष्यों को मन को वश में करने एवं चित्त की वृत्ति को निरोध करने में कठिनता का सामना करना पड़ता है। उसके लिए श्रीमद्भागवद् में कहा है–

भगवान की व्यथा सुनने से मनुष्य के हृदय में भक्ति के प्रति भाव पैदा होते हैं। भक्ति के भाव पैदा हो जाने पर देखे और सुनते हुए इन्द्रियजन्य सुखों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। ऐसा योग–युक्त पुरुष आत्म साधन के उपयोग में तत्पर होकर ऋजु–योग द्वारा ईश्वर प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है।

भक्ति मार्ग अत्यन्त सरल है जिसे साधारण जन भी इस मार्ग पर चलते हुए भगवत् प्राप्ति कर सकते हैं। इसके लिए जो चार प्रकार बताये हैं, वे हैं–सत्संग, भगवान की कथा सुनना, कीर्तन और जप। इनमें से किसी भी एक प्रवृत्ति को अपना लेने से साधक के हृदय में भगवान के प्रति श्रद्धा और विश्वास के भाव पैदा होने लगते हैं। ईश्वर के प्रति जैसे–जैसे श्रद्धा बढ़ती जाती है वैसे–वैसे साधक का संसार के प्रति मोह कम होता जाता है। जो मनुष्य स्वार्थी था अब वह परमार्थ का महत्त्व समझने लगता है।

यह सर्वविदित है कि सभी योगों में कड़ा पुरुषार्थ, मेहनत और दृढ़ संकल्प के साथ साधक में शास्त्रों का ज्ञान का होना जरूरी है। पर भक्ति योग एक ऐसा मार्ग है जिस पर अनपढ़ व्यक्ति भी इन चार

साधनों को अपनाकर शान्ति और संतोष का जीवन व्यतीत करते हैं जो अनेक जाने–माने नामधारी योगी भी नहीं कर पाते हैं।

भक्ति योग अन्तःकरण की स्थिरता का हेतु है। नाम स्मरण, चिन्तन, ध्यान, धारणारूप जो भक्ति हैं वह एक मानसिक कर्म ही है।

सृष्टेरतीतो बुद्धेश्च परः स भक्तिलभ्यः। (रसपाद–सूत्र 5)

अर्थात् सृष्टि से अतीत और बुद्धि से परे वह परमात्मा भक्ति से प्राप्त किया जाता है।

भक्तिरेवेनं नयति भक्तिरेवेनं दर्शयति।

भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसि।। (श्रुति)

अर्थात् भक्ति के द्वारा परमात्मा प्राप्त होता है। भक्ति से भगवान के दर्शन होते हैं, भगवान भक्ति के ही वश में है। **लघूदितायामपि महाकल्मषनाशः।** (अंगिरा सूत्र 35)

सामान्य भक्ति के उदय होने पर भी महापाप का नाश होता है। गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! वेद, तप, यज्ञ, दान किसी के द्वारा इस रूप का साक्षात्कार नहीं होता। केवल अनन्य भक्ति से ही इस रूप को जान सकते हैं, देख सकते हैं और अन्दर प्रवेश कर सकते हैं। (गीता 11/53–54)

स्मृति में कहा गया है कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठ को भस्म कर देती है। उसी प्रकार भगवान की भक्ति साधक के पाप समूह को समूल नष्ट कर देती है। प्रभु स्मरण का मधुर नाम कर्ण में प्रवेश करते ही हृदय के समस्त पाप दूर हो जाते हैं।

श्रीमद्भागवत (11/3/32) में कहा गया है कि रागात्मिका भक्ति करने पर भक्त को लोक–लज्जा, लोक भय आदि किसी बात का विचार नहीं रहता। वह कभी निर्लज्ज होकर उच्च हास करता है, कभी पागल सा नृत्य करता है, कभी उच्च स्वर से गाता हुआ सर्वत्र भ्रमण करता है, कभी रोता है, कभी भगवान के आनन्दामृत को पान करके निस्तब्ध होता है, कभी आत्मा में एकान्तरति प्राप्त कर जगत् को भूल जाया करता है। रागात्मिका भक्ति की यह अपूर्व महिमा है।

धार्मिक उपासना और ईश्वर के मध्य सम्बन्ध को जोड़ने का पहला मूल भक्ति ही है। कहा भी गया है कि भक्ति के अभाव में परमात्मा के दिव्य दर्शन दुर्लभ है।

भक्ति हर मनुष्य के बीज रूप में हृदय में निवास करती है। भक्ति एक परम पवित्र भाव है जो हृदय से निकलती है।

भक्ति मीमांसा में ईश्वर के प्रति परम अनुराग को भक्ति कहा है–सा परानुरक्तिरीश्वरे।

यहां अनुराग से तात्पर्य ईश्वर के प्रति कामना से रहित आसक्ति से है। जब भक्त की भक्ति उच्चतम स्तर तक पहुंच जाती है उस समय भक्त का मन पूर्णतः परमात्मा में लीन हो जाता है और भक्त को अद्वैत भाव प्राप्त हो जाता है। अहंकार पूरी तरह से नष्ट हो जाता है।

साधक में भक्ति का भाव तभी उत्पन्न होता है जब मन भगवान के स्मरण में निरन्तर लगे रहने का अभ्यस्त हो जाता है। अतः भक्ति चित्त का अविरल प्रवाह है, एक पवित्र धारा है जो सदा भगवद आनन्द की ओर बहती रहती है। भक्ति से भक्त का चित्त निर्मल हो जाता है, पिघल जाता है। तीव्र भक्तियोग से हृदय कोमल होकर प्रेम की रसधारा फूट पड़ती है, भक्त की सारी कठिनता दूर हो जाती है। भक्त एक दिव्य आनन्द से सराबोर हो जाता है।

भक्ति विषयक सर्वमान्य ग्रन्थ गीता और श्रीमद्भागवत् है। गीता के एक अध्याय का नाम ही भक्ति योग है। गीता में भक्ति की चार श्रेणियां बताई गई हैं–1. आर्त (दुःखी) 2. जिज्ञासु 3. अर्थार्थी (अर्थ को चाहने वाले) 4. ज्ञानी। उनमें से जो अपना सर्वस्व भगवान को दे देते हैं वह उत्तम श्रेणी की भक्ति है।

जो पुरुष सब भूतों में द्वेषभाव से रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतु रहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख–दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन–इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चय वाला है– वह मुझमें अर्पण किये हुए मन–बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

जो पुरुष आकांक्षा से रहित, बाहर भीतर से शुद्ध, चतुर, पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है–वह सब आरम्भों का त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है– वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

जो शत्रु–मित्र में और मान–अपमान में सम है तथा सर्दी, गर्मी और आसक्ति से रहित है।

जो निन्दा–स्तुति को समान समझने वाला, मननशील और जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता और आसक्तिफ से रहित है– वह स्थिर बुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।

आचार्य रामानुज जो एक वैथी भक्ति के उपासक थे तथा प्रख्यात वेदान्ती होने पर भी वे भक्ति के प्रबल पक्षधर थे। उनके अनुसार भक्ति ज्ञान का श्रेष्ठ अंश है। भक्ति शास्त्रों का यदि अवलोकन किया जाये तो उनमें भक्ति और प्रेम समानार्थक शब्द के रूप में मिलते हैं क्योंकि जिस वस्तु में हमारी भक्ति होगी उसमें प्रेम होना नैसर्गिक है। बिना अनुराग के भक्ति संभव नहीं है और बिना प्रेम के आत्मानन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती अर्थात् भक्ति अन्ततः प्रेम के रूप में ही प्रकट होती है। ज्ञान, कर्म आदि को छोड़कर भक्ति योग के मार्ग पर चलने वालों के लिए अभीष्ट वस्तु प्रेम ही है। भक्तियोग एक ऐसा सरल और सुगम ाधन है जो ज्ञान अथवा पुण्य कर्मों के अनुष्ठानादि से प्राप्त नहीं कर सकते, यह तो भक्त और भगवान के बीच का निकटतम वह सम्बन्ध है जिसमें ज्ञान और पुण्य कर्मों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। यही परम भक्ति है जो सर्व सुलभ है।

यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है कि क्या ज्ञान और भक्ति परस्पर विरोधी है? उत्तर है कि ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं, ये एक–दूसरे के सहायक हैं। भक्ति और ज्ञान के चरम फल के सम्बन्ध में वेदान्त का दोनों के लिए एकमत है–कि दोनों से शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है और मोक्ष को देने वाले हैं।

श्रीमद्भागवत में भक्ति के नौ प्रकार बताये गये हैं–

श्रवण (परीक्षित), कीर्तन (शुकदेव), स्मरण (प्रहलाद), पादसेवन (लक्ष्मी), अर्चन (पृथुराजा), वंदन (अक्रूर), दास्य (हनुमान), सख्य (अर्जुन) और आत्मनिवेदन (बलि राजा)– इन्हें नवध भक्ति कहते हैं।

श्रवण–ईश्वर की महिमा, स्तुति, गुणगान, शक्ति, स्तोत्र इत्यादि को परम श्रद्धा सहित अतृप्त मन से निरन्तर सुनना।

कीर्तन–ईश्वर के गुण, चरित्र, नाम, पराक्रम, शक्ति, महिमा आदि को आनन्द एवं उत्साह के साथ गान करना कीर्तन कहलाता है।

स्मरण–निरन्तर अनन्य भाव से ईश्वर के महात्म और उसकी शक्तियों को मन में धारण करते हुए हर्षित होना स्मरण है।

पादसेवन–भूमि जिसके यथार्थज्ञान का साधन पादस्थानीय है।

अर्चन–मन, वचन और कर्म की पवित्र सामग्री के द्वारा ईश्वर की पूजा करना ही अर्चन है।

वन्दन–माता–पिता, गुरु–आचार्य, विद्वज्जन, योगी व संतजनों को ईश्वर का मूर्त साक्षात्रूप मानकर पवित्र हृदय से उनको प्रणाम करना, उनकी सेवा करना तथा उनका प्रियाचरण करना ही ईश्वर का वन्दन है।

दास्य–संसार में जितनी भी वस्तु, व्यक्ति आदि ऐश्वर्य है, उन सबका स्वामी ईश्वर को मानकर परमश्रद्धा के साथ अपने आप को ईश्वर का सेवक मानकर त्याग भाव से सेवा करना दास्य भाव है।

सख्यभाव–ईश्वर को अपना परम मित्र समझकर अपना सर्वस्व उसे समर्पण कर देना तथा सच्चे भाव से अपने समस्त कर्मों का निवेदन कर देना ही सख्य भाव है।

आत्म निवेदन–ईश्वर की भक्तिविशेष से युक्त होकर अपने आप को सदा के लिए उसके चरणों में समर्पित कर देना तथा अपनी स्वतन्त्रा सत्ता न रखना ही आत्म निवेदन है।

मैं तुझसे अब अपनी नवध भक्ति कहता हूँ। तू सावधन होकर सुन और मन में धरण कर। पहली भक्ति है संतों का सत्संग। दूसरी भक्ति है मेरे कथा–प्रसंग में प्रेम।

तीसरी भक्ति है अभिमानरहित होकर गुरु के चरण कमलों की सेवा और चौथी भक्ति यह है कि कपट छोड़कर मेरे गुण समूहों का गान करे।

मेरे मन्त्र का जाप और मुझमें दृढ़ विश्वास– यह पाँचवीं भक्ति है, जो वेदों में प्रसिद्ध है, छठी भक्ति है इन्द्रियों का निग्रह, शील, बहु अर्थात् नानात्व की ओर न जाकर प्रभु के एकत्व में स्थित होकर

वैराग्य और निरंतर संत पुरुषों के धर्म में लगे रहना।

सातवीं भक्ति है जगत्भर को समभाव से मुझ में ओतप्रोत (प्रभुमय) देखना और संतों को मुझसे भी अधिक करके मानना। आठवीं भक्ति है जो कुछ मिल जाय उसी में संतोष करना और स्वप्न में भी पराये दोषों को न देखना।

वैष्णव धर्म में भक्ति के जो दो मार्ग देखने को मिलते हैं उनमें एक है रागानुगा और दूसरा है वैथी। वैथी भक्ति के अन्तर्गत शास्त्रों की विधि का अक्षरशः पालन किया जाता है। तथा लौकिक आचार के अनुसार सारी क्रियायें होती है। इसके विपरीत रागानुगा भक्ति में किसी भी शास्त्र विधि का पालन नहीं किया जाता है। सब बन्धनों से मुक्त भक्त अपना हृदय भगवान के लिए खोलकर रख देता है। इस प्रकार सभी विकारों से रहित हृदय किसी भी आचार व नियम को स्वीकार नहीं करता है। कहते हैं इस प्रकार की भक्ति वृन्दावन की गोप बालाओं में थी। वृन्दावन की गोपियों की भक्ति विशुद्ध एवं पवित्र प्रेम से ओतप्रोत थी। श्रीकृष्ण के अलावा ओर किसी परब्रह्म को नहीं जानती थी–

कृष्णं विदुः परं सान्त न च ब्रह्मतया मुने।

रामायण में भक्ति योग का बड़ा सुन्दर गुणगान किया गया है। भक्तियोग अर्थात् अहंकार को सर्वथा त्यागकर भगवान की शरण को प्राप्त करना ही भक्ति योग है। कहा है–

जब तक वर्णाश्रम आदि के अनुसार स्वधर्म का पूर्ण पालन नहीं किया जायेगा तब तक वैराग्य उत्पन्न ही नहीं होगा। जब तक वैराग्य न होगा कर्मों का फल त्यागादि न होने से कर्म योग भी नहीं होगा और जब तक कर्म योग न होगा तब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा और जब ज्ञान ही नहीं होगा तब मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

परन्तु भक्ति योग भक्तों के लिए सर्वसुलभ, सुखद एवं स्वतंत्र आलम्बन है। इससे प्रभु शीघ्र ही प्रसन्न होकर भक्तों के अधीन हो जाते हैं। (अहं भक्तपराधीनः)

श्री राम कहते हैं कि– भक्त का प्रेम भगवत् और भगवतों में ही अत्यन्त दृढ़ हो जाता है और भक्त मनसा, वाचा, कर्मणा से मेरा भजन करने का ही नियम निश्चित हो जाता है। भक्त गुरु, पिता, माता, बन्धु पति, देवता आदि सब मुझको ही जानकर दृढ़ता से मेरी सेवा में लगे रहते हैं। वो मेरा ही गुणगान गाकर आनन्दित होते हैं तथा उनकी वाणी मेरे स्नेह में पुलकित हो जाती है और भक्त के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। इसलिये मैं सदा ही ऐसे निष्काम और निष्कपट भक्तों के वश में रहता हूं।

अतः भक्ति योग वास्तव में एक ऐसा सुलभ मार्ग है जिस पर चलते हुए एक भक्त भगवान को अपने वश में कर लेता है और प्रभु का वास भक्त के हृदय में हो जाता है। रामायण में ही कहा है–

श्री लक्ष्मणजी ने प्रभु के चरणों में शीश नवाकर भक्ति योग को शिरोधार्य किया।

भारतीय दर्शन में धार्मिक उपासना एवं ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा का अद्वितीय रूप है भक्ति। कहा भी गया है कि ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ने का सबसे सुलभ एवं पवित्र मार्ग है–भक्ति योग।

भारत भूमि में भक्ति का मार्ग अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। बिना भक्ति के कोई भी साधक ब्रह्म विद्या और परमात्मा का दिव्य ज्ञान प्राप्ति की आशा नहीं कर सकता है।

कहा भी गया है कि– जिनकी परमात्मा में उत्तम भक्ति है और परमात्मा के समान ही अपने गुरु में भवित है उस महात्मा को सभी पदार्थ स्पष्ट हो जाते हैं।

भक्ति का मार्ग एक अत्यन्त पवित्र भाव है जो मनुष्य के बीज रूप में हृदय में रहता है जो कि परमात्मा के स्मरण से पल्लवित होता है ओर अंत में भक्त पूर्ण आत्म निवेदन में परिणत हो जाता है। भक्ति मीमांसा में ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ अनुराग को भक्ति कहा है।

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्य सूत्र)

यहां अनुराग का तात्पर्य परमात्मा के प्रति काम शून्य आसक्ति से है। भक्ति में आसक्ति है पर वह काम, वासना, अहंकार आदि से शून्य आसक्ति है।

इस स्थिति में भक्त का मन परमात्मा में पूर्णतः लीन होकर परमात्मा के अद्वैत भाव को प्राप्त करता है। इस स्थिति में अहंकार का कोई स्थान नहीं होता है। अतः भक्ति एक दिव्य भाव है। यह स्पष्ट है कि भक्ति में परमात्मा को परम प्रेमास्पद एवं श्रद्धास्पद मानना ही भक्ति का स्वरूप है।

देवर्षि नारद भक्ति का लक्षण बताते हुए कहा है–

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। (ना.सू. 2)

अर्थात् प्रेम की प्रगाढ़ता ही भक्ति का मुख्य लक्षण है। नारद ने प्रेम शब्द का प्रयोग करते हुए यह संकेत दिया है कि भक्ति में भक्त अंत में किस अवस्था तक पहुंच सकता है।

अतः हम कह सकते हैं कि ईश्वर में अटल विश्वास एवं श्रद्धा भक्ति का प्रथम सोपान है। यह कथन सत्य भी है क्योंकि जहां विश्वास नहीं है वहां श्रद्धा भी नहीं है तो भक्ति कहां से होगी। ज्ञानी पुरुषों के लिए भी बिना श्रद्धा के काम नहीं चल सकता।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। (गीता 4/39)

भक्ति के उत्तरोत्तर विकास के लिए श्रद्धा का होना आवश्यक ही नहीं परम आवश्यक है। बिना श्रद्धा के भक्ति का होना, बिन बादल बारिश होने जैसा ही है। इसलिए गीता में भी कहा गया है– जो नित्ययुक्त पुरुष मेरे अन्दर मन को आवेशित कर परम श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करते हैं वे मेरे मतानुसार युक्त तम योगी है।

रूप गोस्वामी ने भक्तिकामृत सिन्धु में भक्ति के विकास के क्रम में श्रद्धा की बात कही है। यही श्रद्धा अंत में जाकर प्रेम का रूप धारण कर लेती है।

रूप गोस्वामी भक्ति का लक्षण बताते हुए उसे ज्ञान और कर्म से सर्वथा शून्य माना है और कहा है– अन्य किसी वस्तु की कामना न रखते हुए ज्ञान कर्मादिइ के आवरण को हटाकर श्री कृष्ण रूप (इष्ट देव) परमात्मा के सर्वथा अनुकूल होकर उन्हीं का निरन्तर चिन्तन करना ही श्रेष्ठ भक्ति है।

भक्ति का गुणगान कट्टर अद्वैतवादी आचार्यश्री मधुसुदन सरस्वती जैसे महान दार्शनिक ने भी भक्ति रसायन नामक ग्रंथ में किया है। श्री मधुसुदन जी भक्ति का दार्शनिक विवेचन करते हुए भक्ति मार्ग को जीवन का परम पुरुषार्थ बताते हुए इसे ज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया है। इनके मतानुसार भक्ति मन की एक विशेष अवस्था है जिसमें मन रागजन्य आनन्दातिरेक से द्रवीभूत होकर भगवदाकार बन जाता है। उन्होंने भक्ति का लक्षण बताते हुए कहा है कि–

भगवद्भाव से द्रवीभूत हुए चित्त की चराचर नायक भगवान के अन्दर धारावाहिक रूप को प्राप्त हुई वृत्ति को ही भक्ति कहते हैं।

वर्तमान में मुख्य रूप से भक्तिशास्त्र के दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं–1. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र और 2. नारद भक्ति सूत्र। नारद भक्ति सूत्र के दो प्रकार हैं–एक बड़ा और एक छोटा। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में भक्ति का स्वरूप परमेश्वर विषयक अनुराग को भक्ति बताया है।

गीता में भक्तियोग के साधन –

1. भगवान की प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहना।
2. भगवान की अनन्य शरण में जाना।
3. भगवान का निरन्तर जप करना।

भक्तों के प्रकार :–

भक्ति योग के संबंध में भक्तों के चार प्रकार निम्नानुसार बतलाये गये हैं –

1. अर्थार्थी
2. आर्त्त
3. जिज्ञासु
4. ज्ञानीभक्त

गीता के अठारहवें अध्याय के 65वें श्लोक में भगवान कृष्ण कहते हैं कि 'भगवान के मन में अपना मन मिला दो, मेरे भक्त हो जाओ, मेरा भजन करो, मुझे प्रणाम करो। मैं तुम्हें वचन देता हूं कि तुम मुझको (भगवान) ही प्राप्त होंगे, क्योंकि तुम मेरे (भगवान) प्रिय हो। भगवान श्रीकृष्ण कहते है–

1. भक्ति योग में श्रद्धावान भक्त सम्पूर्ण योगियों में श्रेष्ठ होता है।
2. सांख्य योग से भक्तियोग श्रेष्ठ है।
3. भक्त भगवान को सब कुछ अर्पण कर सर्व बन्धनों से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त होता है।
4. भगवान में मन लगाने पर भक्त संतुष्ट हो जाता है।
5. भक्त का अन्तःकरण प्रसन्न और पवित्र हो जाता है।
6. भगवान शरणागत भक्तों को सभी पापों से मुक्त कर देते हैं।
7. भगवान अपने भक्त को समता देते हैं।

भक्ति योग की विशेषताएं–

1. भक्ति योग में भक्त अपना सब कुछ भगवान को समर्पित कर ईश्वर का साक्षातकार करता है।
2. अपने आपको समर्पित कर देने से साधक के अन्दर का सारा अहंकार समाप्त हो जाता है।
3. भक्त हर विपरीत परिस्थिति में केवल भगवान की ही सहायता की अपेक्षा रखता है।
4. भक्ति मार्ग में सब भोगों में सरल, सुलभ व प्रधान माना है।
5. भक्ति मार्ग की प्रमुख दो विशेषताएं हैं–श्रद्धा और विश्वास।
6. भक्ति मार्ग भाव प्रधान है।
7. भक्ति योग में प्रेम (भगवत्–प्रेम) का अत्यधिक महत्त्व है।

(ग). कर्म योग

कर्म शब्द डुकृञ् (करणे) धातु से निष्पन्न हुआ है। 'कृ' धातु का अर्थ होता है–करना या व्यापार। मनुष्य जो कुछ शारीरिक, वाचिक या मानसिक रूप से करता है वह कर्म है। स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है–आत्मा की आभ्यन्तरिक अग्नि तथा उसकी अपनी शक्ति एवं ज्ञान को बाहर प्रकट करने के लिये जो मानसिक अथवा भौतिक घात उस पर पहुंचाये जाते हैं वे ही कर्म हैं।गीता में कर्मयोग को समत्व बुद्धियोग कहा है। साधना (कर्म) की प्रकृति एवं साध्य के अनुरूप प्राप्त परिणाम कर्मयोग कहलाता है। कर्म का अर्थ है शरीर से तथा मन से की जाने वाली क्रिया। कर्मफल की इच्छा को छोड़कर कर्म करते रहना, कर्त्तव्य को कभी नहीं छोड़ना, यह कर्मयोग का सारांश है। इच्छा और आसकित्त का त्याग करना तथा मन को स्थिर एवं शांत करना यही कर्मयोग का स्वरूप है।

कर्म और उसका फल– किये हुये कर्म का फल मिलना अवश्यम्भावी है, कर्म करण है और फल कार्य है। कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होतीहै। मनुष्य अच्छा कर्म करके या बुरा कर्म करे उसका कर्म का फल अवश्य मिलेगा। स्वामी विवेकानन्द जी ने तो यहां तक कहा है कि फल उत्पन्न किये बिना कोई भी कर्म नष्ट नहीं हो सकता तथा प्रकृति की कोई भी शक्ति उस कर्म के फल को रोक नहीं सकती। महाभारत में भी शान्ति पर्व में कहा है–

चाहे किसी को उसके पाप कर्मों का फल उस समय मिलता हुआ दिखाई न दे, तथापि वह उसे ही नहीं, उसके पुत्रों, पौत्रों और पौत्रों तक को भोगना पड़ता है।

प्रारब्ध कर्मों का फल पूर्णतः भोगे बिना शान्त नहीं होते, इसके लिये वेद व्यासजी ने कहा है– जिस प्रकार हजारों गौओं के बीच में भी बछड़ा अपनी माता के पास चला जाता है उसी प्रकार जीव के किये गये अच्छे–बुरे कर्म उसके पीछे–पीछे चलते हैं।

कर्म का जन्म कामना से होता है। वासना कर्म की जननी है। इस कर्मरूपी कामना का फल है–बन्धन अर्थात् जन्म और मृत्यु का बन्धन। वास्तव में देखा जाये तो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मूल कर्म ही है। प्रकृति में होने वाले जितने व्यापार हैं वे सब कर्म के अधिन हैं। सृष्टि के आदि से लेकर अन्त (प्रलय) तक जीव और अजीव में इसी कर्म का व्यापार देखने को मिलता है और इसी कर्मचक्र में पता नहीं जीव कब से फंसा हुआ है। यदि हमारा जन्म है, हम वर्तमान में है तो आत्मा का कर्म से सम्बन्ध अनादिकाल से है। जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद पुनः जन्म, ठीक इसी तरह से अनादि काल से आत्मा पुराने कर्मों का फल पाकर उन्हें अलग कर देती है और राग–द्वेष आदि भावों द्वारा नये कर्मों का बन्धन होने से जन्म–मृत्यु का चक्र चलता रहता है। इसका अर्थ हुआ कि इन कर्म परमाणुओं में बड़ी शक्ति है जो कि आत्मा जैसा अनन्त शक्ति तत्त्व भी इसके बन्धन से मुक्त नहीं है। कहते हैं कि प्रलयकाल में भी कर्मों के प्रवाह का विनाश नहीं होता। पुनः सृष्टि के आविर्भाव के समय कर्मों से युक्त जीवों का पुनरागमन होता है।

मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। इस स्वतंत्रता के कारण ही उसके अधिकार में ये है कि उसे कौन–सा कर्म करना चाहिए और कौन–सा कर्म नहीं करना चाहिए। इस कर्म स्वतंत्रता के कारण ही मनुष्य अच्छा या बुरा बनता है।

गीता में भी कहा है कि फल के प्रति आसक्ति ही बन्धन का कारण है। यदि कर्ता अनासक्त हो जाये तो वह कर्मों के रोष (बन्धन) से मुक्त हो जाता है। इस प्रसंग में रूस के महान् दार्शनिक टालस्टॉय ने बड़ी सुन्दर बात कही है कि लोग ईसा मसीह के बलिदान की बहुत स्तुति करते हैं परन्तु ये संसारी जीव तो सुबह से शाम तक हर दिन न जाने कितना अपना खून सुखाते हैं, दौड़–धूप और मेहनत करते हैं। दो गधों का बोझ अपनी पीठ पर लादकर चक्कर काटने वाले ये संसारी जीव ईसा मसीह से इन्हें कितना गुना अधिक कष्ट सहना पड़ता है। यदि ये इनसे आधे भी कष्ट भगवान के लिए उठाएं तो सचमुच ईसा से भी बड़े बन जायेंगे। इन संसारी जीवों की तपस्या तो सचमुच में बहुत बड़ी होती है, पर यह तपस्या होती है क्षुद्र फलों के लिये। इस आसक्ति के कारण ही सांसारिक जीव इतनी तपस्या करने के बाद भी खाली हाथ ही रहता है।

टॉलस्टाय की यह बात बड़ी मार्मिक है। इन्होंने अपनी इस बात में गीता के निष्काम कर्म योग की ही बात कही है। मनुष्य अत्यधिक कष्ट, मेहनत और पुरुषार्थ करने के बाद में भी वह सुख, संतोष एवं शान्ति को प्राप्त न करके उल्टा वासनाओं के चक्रव्यूह में और फंसता जाता है। इन सबके पीछे एक ही कारण है–कर्म फल के प्रति सघन आसक्ति। इसीलिये संसारी मनुष्य का कर्म आत्म–बन्धन का कारण बनता है और परमार्थी मनुष्य का कर्म आत्मविकास करता है।

कर्म योग की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि परमार्थी मनुष्य भी इस संसार में रहता हुआ कर्म करता है और संसारी मनुष्य भी इसी संसार में रहते हुये कर्म करता है। कर्म दोनों करते हैं पर दोनों का फल भिन्न है। परमार्थी मनुष्य फल की आसक्ति का त्याग कर कर्म करते हुये वह कर्मयोगी बन जाता है और संसारी मनुष्य आसक्ति में बंधकर कर्म योगी बन जाते हैं। बस इतना ही अंतर है कर्म के तत्त्व को समझने और न समझने का।

भगवान कृष्ण योगी कहे जाते हैं, क्यों? इसका बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है कि कई दिन बीत जाने पर गोकुल की गोपियों की इच्छा अपने कान्हा से मिलने की होती है जिसके लिये उन्हें द्वारका जाना पड़ेगा। द्वारका जाने के लिये गोपियों को यमुना को पार करना पड़ेगा, पर यमुना को पार करें कैसे? उनको उपाय सुझाया गया कि अभी गोकुल क्षेत्र में ऋषि दुर्वाशा आये हुये हैं वो ही कोई उपाय बता सकते हैं। पर ऋषि दुर्वाशा अपने क्रोध के लिये जाने जाते थे फिर भी गोपियां उनको खुश करने के लिये अनेक प्रकार के फल एवं पकवान लेकर उनके पास पहुंची। ऋषि ने सभी का आतिथ्य स्वीकार कर भरपेट भोजन किया। जब ऋषि ने गोपियों से आने का प्रयोजन पूछा तो ऋषि ने गोपियों से कहा आप यमुना को हाथ जोड़कर इतना बोल देना कि हमें द्वारका जाने के लिये मार्ग प्रदान करें। ये नित्य उपवासी ऋषि दुर्वाशा की आज्ञा है। जैसा ऋषि ने कहा वैसा ही हुआ और गोपियां द्वारका पहुंच गई। वहां कई दिनों तक भगवान के साथ रास लीला करके जब वापस लौटने लगी तो गोपियों ने भगवान कृष्ण से कहा आते समय तो हमारी समस्या ऋषि दुर्वाशा ने दूर कर दी। जाते समय तो आप ही हमारी समस्या का समाधान करेंगे। तो भगवान कृष्ण ने कहा इस बार आप यमुनाजी को रास्ते के लिये मेरा कह देना कि नित्ययोगी भगवान कृष्ण ने कहा है। गोपियां गोकुल पहुंच गई पर वे सभी एक असमंजस में पड़ गई कि इतने पकवान खाने वाले ऋषि नित्य उपवासी एवं हजारों रानियों के मध्य रहने वाले कृष्ण नित्य योगी कैसे हो सकते हैं? गोपियों की इस शंका का समाधान बड़ा ही मार्मिक था कि ऋषि ने गोपियों के सत्कार को स्वीकार करते हुये उसको सम्मान दिया पर वे इतने पकवान खाकर भी उससे निर्लिप्त रहे। भगवान कृष्ण भी इतनी रानियों के मध्य भोग करते हुए भी वे उसके प्रति हमेशा निर्लिप्त रहते हैं। इसलिये वे योगीराज हैं। हमारे शास्त्र कहते हैं कि फल का त्याग करने से उसका अनन्त गुना फल प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक एवं सांसारिक दोनों ही मनुष्य कर्म करते हैं। सांसारिक मनुष्य कर्मों के फल के प्रति आसक्त होकर उस कर्म के फल की प्राप्ति में ही अपना चिन्तन करता रहता है जिससे मन दूषित होता है और मानसिक एवं शारीरिक ऊर्जा का क्षय होता है परन्तु आध्यात्मिक पुरुष निरन्तर कर्म करता है पर अनासक्त भाव से, जिससे हमेशा वह आत्मिक आनन्द को प्राप्त करता हुआ उत्तरोत्तर अपना विकास करता है।

विनोबा भावे ने कहा है कि 'फल निरपेक्ष पुरुष की कर्म विषयक तन्मयता समाधि के करने की होती है। इससे कर्मों के प्रति कुशलता बढ़ जाती है और कर्मों का बन्धन भी नहीं होता। यही सच्चा जीवन जीने की कला है।

मेरी दृष्टि में पतंजलि के अष्टांगिक योग में यम नियम की पालना वास्तव में कर्म योग ही है क्योंकि यदि साधक कर्म फल त्याग की कसौटी पर खरा उतरता है तो हिंसा, असत्य, चोरी आदि कार्य तो स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे। यदि यम की पालना हम नहीं करते हैं तो फिर समाधि भी नहीं है। अतः यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि पतंजलि योग के अष्टांगिक मार्ग का पहला अंग वास्तव में निष्काम कर्म की ही बात करता है।

कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिये हमारे साहित्य में यज्ञ–कर्म का विधान है। यह कर्म फल त्याग से भी ऊंचा और उदात्त कर्म है। यज्ञ–कर्म से तात्पर्य कर्मों का ईश्वरार्पण है। यहां यज्ञ का अर्थ– देवपूजा, संगतिकरण और दान है। भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं–

यज्ञ न करने वाले का लोक–परलोक नष्ट हो जाता है। अथर्ववेद के अनुसार, अयज्ञियो हतवर्चा भवति। अर्थात् यज्ञहीन व्यक्ति तेजोहीन होता है। शतपथ ब्राह्मण (81/7/1/15) में लिखा है–'यज्ञो वैश्रेष्ठत्तमं कर्म' अर्थात् श्रेष्ठतम् कर्म यज्ञ है। गीता में भी कहा है–

ब्रह्म में कर्मों को अर्पित कर जो आसक्ति छोड़कर कर्मानुष्ठान करता है वह उसी प्रकार पाप–लिप्त नहीं होता जिस प्रकार जल कमल के पत्ते पर नहीं टिकता।

यथार्थ कर्म नहीं करने पर ही यह संसार कर्मों का जंजाल व बन्धन का कारण बनता है–यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

इस प्रकृति की सारी सत्ता और कर्म ईश्वर के लिये है। ईश्वर ही उसका उद्भव है और उसकी गति ईश्वर की ओर ही है, पर अहंकार से युक्त मनुष्य इस सत्य को न समझकर विपरीत भाव से कर्म करते हुए इस संसार चक्र में पड़ा रहता है। यज्ञ–कर्म वह सुगम मार्ग है जिसमें हमारे द्वारा किये गये छोटे से छोटे एवं तुच्छ कर्मों तथा बड़े से बड़े एवं श्रेष्ठ कर्मों को ईश्वरार्पण भाव से करना है। इन कर्मों को किसी भी धारणा में बन्ध कर नहीं करना चाहिए।

आत्माभिव्यक्ति के लिये कर्म करते रहना चाहिए पर कर्म वासना के अधीन रहकर न करके वासनारहित होकर कर्म करते जाना चाहिए। यदि हम वासना और कामना को दुःख का कारण समझकर कर्म का यदि त्याग करते हैं तो यह हमारी सबसे बड़ी भूल है। कुरुक्षेत्र में जब अर्जुन अपने कर्म का त्याग कर रहा था तब भगवान कृष्ण ने अर्जुन को बारम्बार यही बात समझाई कि कर्म का त्याग करना गलत है। उन्होंने कहा कामना को छोड़ना निस्पृहता है। जहां कामना न हो वहां ममता भी नहीं–यही निर्ममता है तथा जहां ममता नहीं वहां अहंकार भी नहीं, यही निरहकांक्षा है। अतः साधक कर्म करे पर कामना न करे। कर्म के बिना आत्मा अभिव्यक्ति का अवसर न पाकर कुण्ठित हो जाती है। अतः कर्म को छोड़ना स्वयं को कुण्ठित कर लेना है।

सृष्टि की उत्पत्ति के पीछे ब्रह्म की कामना को माना जाता है कि प्रजापति ने जब यह कामना की कि मैं अकेला हूं, अनेक हो जाऊं। कहते हैं यही कामना इस सृष्टि की उत्पत्ति का कारण बनी। अतः हम कह सकते हैं कि यदि कामना न होती तो इस सृष्टि की उत्पत्ति संभव न हो पाती। अतः कोई भी कर्म बिना कामना के संभव नहीं है। इस स्थिति में निष्काम कर्म का क्या अर्थ है? कामना के दो प्रकार बताये हैं– एक है सहज कामना और दूसरी है कृत्रिम कामना। सहज कामना ही निष्काम कर्म है। व्यक्ति को भूख लगी, खाना खाया यह सहज कामना है। खाना खा लिया थोड़ी देर बाद ही कहा कि उस सब्जी के वशीभूत होकर खाना खा लिया यह कृत्रिम कामना है, वासना से युक्त है। पहली कामना में आपने खाने के लिये इच्छा उत्पन्न नहीं की थी। शरीर को चलाने के लिए खाना जरूरी है और स्वाभाविक रूप से भूख लगती है और हम खाना खाते हैं पर दूसरी स्थिति में अपनी पसन्द की सब्जी की बात सुनकर मन में जो इच्छा उत्पन्न हुई वह कृत्रिम कामना है। इसलिये इन दोनों का कर्म भी अलग–अलग है।

मानसिक भावना ही क्रियाओं के कर्म, अकर्म तथा विकर्म बनाने में मूल हेतु है । कर्म का स्वरूप एक दिखाई देने पर भी मानसिक भावना में अन्तर होने के कारण उनके स्वरूप तथा परिणामों में भी अन्तर आ जाता है । जैसा कि मैत्रायष्युपनिषद (4/11) में कहा गया है –

मनुष्य का मन ही बंधन एवं मोक्ष दोनो का ही कारण बनता है । विषयों में आसक्त होने से बंधन हो जाता है तथा विषयों में आसक्त न होने पर मोक्ष हो जाता है। श्रीमद्भागवत् गीता में भी उक्त तथ्य को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया गया है–

कर्मयोगी (ममत्वबुद्धि केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्यागकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं।

कर्मयोग में यह सवाल पैदा होना स्वाभाविक है कि क्या सभी कामनाओं को छोड़ देना चाहिए तो उस चित्त में मनुष्य अकर्मण्य हो जायेगा। इसका उत्तर यह है कि कर्म ही वह माध्यम है जिससे आत्मा को अभिव्यक्ति का माध्यम मिलता है। अतः गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि जो साधक शान्त अंतःकरण वाला, भयरहित और ब्रह्मचारी व्रत में सिद्ध मन का संयमन करके चित्त को मुझ में लगाकर मेरे परायण हो जाये तो उसको मेरे में रहने वाली निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

स्वाभाविक कामना से प्रेरित होकर किये जाने वाले कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते हैं। बन्धन का कारण कृत्रिम कामना है।

एक शिशु में जन्म के साथ ही माता के स्तन–पान की इच्छा उत्पन्न होती है। यदि उसमें यह इच्छा ही उत्पन्न न हो तो शेष कर्तव्यों के पालन का तो प्रश्न ही नहीं है। यदि हम यह मानें की दुग्ध पीने की कामना को वह शिशु बन्धन का कारण मानते हुये स्तन–पान के विमुख हो जाये तो क्या वह शिशु जीवित रह पायेगा। वह तो अपने आप में आत्महत्या करने जैसा होगा। ईश्वर द्वारा प्रदत्त स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति के लिये हमें कर्म करते रहना चाहिए।

यहां यह जटिल प्रश्न पैदा होता है कि कौन–सी इच्छायें ईश्वरकृत है और कौन–सी कृत्रिम है। यदि इस प्रश्न का उत्तर मनुष्यों पर छोड़ दिया जाये तो जितने मनुष्य उतनी बातें होगी। इसका उत्तर पाने के लिये हम शास्त्रों का सहारा लेते हैं क्योंकि शास्त्र धर्म–परायण ऋषियों की वाणी हैं।

ईश्वरीय कामनायें सहज ही उत्पन्न होती हैं। अतः इनसे उत्पन्न कर्म भी सहज ही होते हैं। यदि हमारे कर्मों में कहीं भी आयास का अंश है तो समझ लेना चाहिए कि हमारे कर्मों की प्रेरणा के पीछे की कृत्रिम इच्छायें काम कर रही है। जो कर्म आयास होगा वह कर्म आनन्द का कारण नहीं बन सकता है। ईश्वरीय कामनायें तो अनायास ही घटित होती है, जो कर्म बन्धन का कारण नहीं बनती हैं। हमारे शरीर में होने वाली सभी आंतरिक क्रियायें सहज रूप से चलती है। श्वास–प्रश्वास का होना सहज ईश्वरीय कामना है जिसके बिना हम जिन्दा रह ही नहीं सकते हैं। वेदों के बारे में कहा जाता है कि उनका कोई रचनाकार भी नहीं है। वेद सहज स्फूर्त थे। इसलिये वे अजर–अमर काव्य बन गये। इस सृष्टि का निर्माण प्रजापति की कामना, सहज कामना का परिणाम है। यदि इस सृष्टि का निर्माण सहज कामना से है तो हमारे कर्म भी सहज ही होने चाहिए, वे सहज कर्म ही हमें मोक्ष दिलाने वाले हैं। जिस प्रकार इस प्रकृति के नियम अटल और शाश्वत हैं उसी प्रकार जीव का स्वभाव आत्मा में रमण करता है। जीव यदि अपने स्वभाव में स्थित हो जाये तो वह स्वयं ही ईश्वर है।

कर्ममीमांसा में कर्म के छः प्रकार बताये हैं–1. नित्य, 2. नैमित्तिक, 3. काम्य, 4. नित्यनैमित्तिक, 5. नित्य काम्य, 6. नैमित्तिक काम्य।

कर्म का एक यह भी सिद्धान्त है कि प्रत्येक कर्म में पहले हमें कुछ देना होता है तभी हमें कुछ प्राप्त होता है। इसलिये कहते हैं कर्म ही पूजा है। हम भोजन करते हैं यह हमारा नित्य कर्म है। भोजन से हमें शक्ति और ऊर्जा मिलती है।

यह बात सत्य है कि जहां गुण होता है वहां दोष भी अवश्य होते हैं। जहां दोष होते हैं वहीं गुण भी होते हैं। अतः निर्गुण बनना है तो निर्दोष भी बनना होगा।

व्यक्ति अच्छे या बुरे कर्मों को संस्कारों से प्रेरित होकर करता है, फिर वे अपने ही किये हुए कर्म अनेक रूपों में हमें फल प्रदान करते हैं, वैसे–वैसे फल भोगने से फिर वैसे ही संस्कार बन जाते हैं, उन संस्कारों से प्रेरित होकर व्यक्ति पुनः वैसे ही कर्म करने को बाध्य हो जाता है। योगदर्शन के अनुसार कर्म का सिद्धान्त है–

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। *(योगदर्शन–2.13)*

अविद्यादि क्लेशों के विद्यमान रहने पर उस कर्म समुदाय का फल जाति, आयु और भोग होते हैं। कर्माशय क्लेशों के रहने पर ही फल को देने वाला होता है। यह विचार किया जाता है कि क्या एक कर्म एक जन्म उत्पन्न करने का कारण बनता है? या एक कर्म अनेक जन्मों को देता है? दूसरा विचार यह है कि क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों को निष्पन्न करते हैं अथवा अनेक कर्म एक जन्म को निष्पन्न करते हैं?

एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं हो सकता। क्यों? अनादि काल से संचित असंख्य अवशिष्ट कर्मों का और वर्तमान काल में कृत कर्मों का फल के क्रम का नियमन होने से मनुष्यों में कर्मफल के विषय में अविश्वास प्राप्त होता है और वह अभीष्ट नहीं। और न ही एक कर्म अनेक जन्मों का कारण होता है, क्यों? अनेक कर्मों में से एक कर्म ही अनेक जन्मों का कारण होता है, इस रुप में अवशिष्ट (कर्म समुदाय) के विपाककाल (फलों को भोगने के लिये अवसर) का अभाव प्राप्त होता है और वह भी अभीष्ट नहीं है। और अनेक कर्म अनेक जन्म का कारण नहीं होता, क्यों? वे अनेक जन्म एक साथ सम्भव नहीं। इसलिये (जन्मों को) क्रम से ही कहना चाहिये। और उस प्रकार पूर्वोक्त दोष उपस्थित होगा।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिाविधमितरेषाम्। *(योगदर्शन–4.7)*

योगी के कर्म अशुक्ल यानी लौकिक पुण्य फल की कामना से रहित और अकृष्ण यानी पाप रहित होते हैं अर्थात् ईश्वर प्राप्ति मात्र के लिये किये गये 'निष्काम कर्म', दिव्य कर्म होते हैं। योगी, निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम व अकाम होकर संसार के सुखार्थ केवल मात्रा दिव्य कर्मों का ही अनुष्ठान करता है। योगी कभी भी अकर्मण्य या आलसी नहीं होता है, चूँकि वह उस शश्वत का प्रतिनिधि बनकर इस धरती पर जीता है। अतः जब ईश्वर निष्काम भाव से संसार के समस्त कर्मों को करता है, तो योगी को भी ईश्वर के समान निष्काम भाव से दिव्यकर्म अवश्य करने चाहिये। योगी से भिन्न सांसारिक व्यक्तियों के शुभ, अशुभु और पापपुण्य (मिश्रित) तीन प्रकार के कर्म होते हैं। कर्मजाति चार प्रकार की होती है। और वे हैं–कृष्ण (पाप), शुक्लकृष्ण (पापपुण्य) मिश्रित, शुक्ल (पुण्य) अशुक्लाकृष्ण (न पुण्य न पाप) दिव्य कर्म या निष्काम कर्म। उनमें से पापात्मक (कर्मजाति) दुरात्माओं की होती है। पाप–पुण्य (कर्मजाति) से सम्पादित होती है। उसमें दूसरों को दुःख देकर, दूसरों पर दया करने के द्वारा ही कर्माशयों का संग्रह किया जाता है। पुण्य–तप, स्वाध्याय और ध्यान करने वालों की होती है। वह केवल मन के आश्रित होने से, बाह्य साधनों के आधीन न होने से, दूसरों को दुःख देने से नहीं होती है। पापपुण्य रहित– संन्यासियों, क्षीणक्लेश वालों एवं चरम देह वालों की होती है। उनमें फल संन्यास करने से पुण्यरहित तथा पाप कर्मों को न अपनाने से पापरहित योगियों की ही होती है योगी कर्म तो करता है, सामान्य व्यक्ति से हजारों गुणा ज्यादा कर्म करता है पर चूँकि उसे कुछ फल पाने की चाहत न होने के कारण उसके कर्म दिव्य कर्म या निष्काम कर्म ही होते हैं। अन्य समस्त प्राणियों की पूर्वोक्त तीन प्रकार की कर्मजाति होती है। कुछ पुण्य होते हैं, कुछ पाप होते हैं और कुछ मिश्रित कर्म होते हैं।

ऋषियों ने कर्म के तीन साधन माने हैं। मन, इन्द्रियाँ और शरीर। यहाँ पर योगदर्शनकार ने कर्मों के चार प्रकार के विभाग किए हैं–शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल–कृष्ण (मिश्रित) और अशुक्ल अकृष्ण । पुण्य कर्म को 'शुक्ल' कहते हैं। अपुण्य कर्म को 'कृष्ण' कहते हैं। पाप–पुण्य मिश्रित कर्म को 'शुक्लकृष्ण' कहते हैं। ये तीनों ही सकाम कर्म हैं। निष्काम कर्म को 'अशुक्ल–अकृष्ण' कहते हैं। जो कर्म अपने और अन्यों के लिये लौकिक सुख को देते हैं, वे 'शुक्ल कर्म' हैं, जैसे उत्तम कार्यों के लिये दान देना, निर्बलों की रक्षा करना आदि। जो दुःखप्रद कर्म होते हैं– कृष्ण या पाप कर्म कहलाते हैं जैसे– चोरी, हिंसा आदि कर्म। तथा जो कर्म कुछ सुख देते हैं और कुछ दुःख देते हैं वे 'शुक्लकृष्ण कर्म' कहलाते हैं। जैसे खेती करना, विविध बांधें का निर्माण करना आदि। क्योंकि इन कार्यों में अनेक प्राणियों को सुखदुःख दोनों की प्राप्त होती है।

गीता में भगवान कृष्ण स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताते हुए कहते है कि–

श्री भगवान् ने कहा : हे पार्थ! जब मनुष्य अपने मन में गति करने वाली सब कामनाओं को त्याग देता है, और जब वह अपने आप से अपने में ही सन्तुष्ट रहने लगता है, तब वह स्थित–प्रज्ञ कहलाता है।

जिसका मन दुखों से उद्विग्न, बेचैन नहीं हो जाता, सुखों में जिसकी लालसा मिट जाती है, जो राग, भय और क्रोध से मुक्त हो जाता है, वह स्थिर–बुद्धि वाला व्यक्ति 'मुनि' कहलाता है।

जैसे कछुआ अपने अंगों को सब ओर से सिकोड़ कर अपने खोल के अन्दर खींच लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के विषयों में से अपनी इन्द्रियों को खींच लेता है तब समझो कि उसकी प्रज्ञा स्थिर हुई।

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता रहित, अहंकार रहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्ति को प्राप्त है।

तीन प्रकार के शरीर और कर्म

साधारण मनुष्य जो भी कर्म करते हैं वे अधिकतर शरीर आधार होते हैं। हमारे जो तीन शरीर हैं–स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इनमें स्थूल शरीर के घटक वात, पित्त और कफ है। सूक्ष्म शरीर के घटक काम–क्रोध, लोभ आदि हैं। कारण शरीर में विद्या और अविद्या का वास है। स्थूल शरीर के घटकों का कारण रजोगुण है और सूक्ष्म शरीर के घटकों का कारण तमोगुण है। यदि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के मध्य संतुलन बनाये रखने के लिये जो भी कर्म किये जाते हैं वे नित्य कर्म हैं। सूक्ष्म और कारण शरीर के मध्य संतुलन बनाये रखने के लिये जो कर्म किये जाते हैं वह भी नित्यकर्म हैं। स्थूल शरीर की रक्षा हम संतुलित भोजन आदि के द्वारा करते हैं। सूक्ष्म शरीर की रक्षा धर्म शास्त्रों से तथा कारण शरीर की रक्षा ध्यान योगादि के द्वारा की जाती है। अतः रोग होने पर औषधि का सेवन नैमित्तिक कर्म और शरीर को पुष्ट करने के लिये किया जाने वाला कर्म काम्य कर्म होगा।

इन कर्मों में नित्य नैमित्तिक कर्म त्याज्य नहीं है क्योंकि ये सभी कर्म हमारे स्वरूप की रक्षा करने वाले हैं। यदि स्वरूप ही नहीं रहेगा तो फिर मोक्ष की कामना करना ही व्यर्थ है।

काम्य कर्म बन्धन का कारण बनते हैं क्योंकि ये कर्म विशेष स्वार्थसिद्धि या वृद्धि के लिये रागवश किये जाने वाले कर्म हैं।

निष्कर्षतः हमें ऐसे कर्मों का त्याग करना चाहिए जो हमारे दूसरे शरीर को हानि पहुंचाते हैं। हमें स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म और कारण शरीर के मध्य भी संतुलन बनाये रखना चाहिए। भारतीय चिन्तनधारा में स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म और कारण शरीर को अधिक महत्त्व दिया गया है क्योंकि ये शरीर ही बन्धन और मुक्ति के कारण हैं।

गीता में कहा है– जो साधक केवल कर्त्तव्य कर्म की परम्परा को सुरक्षित रखने के लिये लोक संग्रह एवं सृष्टि चक्र की परम्परा चलाने के लिये कर्त्तव्य कर्म का पालन करता है। अर्थात् कर्मों को केवल दूसरों के लिये ही करता है, अपने लिये नहीं वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य कामना, स्पृहा, ममता, अहंता से रहित होता है उनको शान्ति मिलती है और निर्वाण को प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन तु कर्मफल का हेतु मत बन। जब मनुष्य कर्मफल, कर्म के कारणों एवं कर्म करने के साधन के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है उस स्थिति में वह कर्म का हेतु बन जाता है और जिन कर्मों के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ता है तब वह कर्मों का हेतु नहीं बनता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि –

1. कर्म योग, ज्ञान योग से श्रेष्ठ है।
2. कर्म योग ध्यान योग से श्रेष्ठ है।
3. समता मुक्त कर्म योग शीघ्र ही परम तत्त्व को प्राप्त करता है।
4. कर्म योगी अपने आप में संतुष्ट हो जाता है।
5. कर्म योगी अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

6. जो साधक केवल कर्तव्य परम्परा को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से ही कर्म करता है उसके सभी कर्म व पाप नष्ट हो जाते हैं।
7. कर्म योगी परम शान्ति को प्राप्त होता है।
8. कर्म योगी सिद्धि व असिद्धि में सम हो जाता है।

गीता में ही भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि मनुष्य क्षण मात्र भर के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। यदि कोई व्यक्ति शान्त एवं स्थिर खड़ा हो जाये तो भी वह खड़े रहने का तो कर्म कर ही रहा है। आंखों से देखने का, कानों से सुनने का, हवा के स्पर्श का आदि हमारी इन्द्रियां किसी न किसी रूप में बाहरी संवेदनों को ग्रहण करती रहती है, ये सारे कर्म हैं। एक बार के लिए हम अपनी इन्द्रियों को नियंत्रित कर भी लें जैसे आंख को बन्द कर लें, कान को बन्द कर लें, एयरकण्डीशनर का जमाना है तो हम कमरे का तापमान भी बिल्कुल अपने अनुकूल रख लें तो भी क्या हम मानसिक कर्म को रोक सकते हैं? मन से मनन करना कर्म है। नींद आ गई तो भी मन का कर्म नहीं रूकता। नींद अपने आप में एक कर्म है। नींद में स्वप्न आने शुरू हो गये तो स्वप्न देखने का कर्म है। इन सब के बाद भी श्वास–प्रश्वास, हृदय की धड़कन आदि जीवित रहने के लिये कर्म होता रहता है। योगीराज अरविन्द ने तो यहां तक कह दिया है कि मनुष्य का यहां रहना (मनुष्य जीवन) ही एक कर्म है। यदि कर्म ही हमारा जीवन है तो जीवन निर्वाह के लिए धर्म परायणता के लिये यहां तक कि मोक्ष प्राप्ति के लिए हमें कर्म करना ही पड़ेगा।

विनोबा भावे ने कहा है कि अपने स्वरूप को समझने के लिए कर्म एक साधन है। दर्पण के सामने जो जैसी वस्तु आती है उसमें उसका वैसा ही स्वरूप देखने को मिलता है। ठीक इसी तरह व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसको वैसा ही व्यवहार और फल प्राप्त होता है। अतः कर्मों से बचने की अपेक्षा अपने स्वरूप को जानकर इसे निर्मल बनाने का प्रयास करना चाहिए। इसलिये हम कह सकते हैं कि चित्त व आत्मा की शुद्धि कर्म से ही होती है। कर्म स्वतंत्रता के बारे में गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

मनुष्य स्वयं अपना उत्थान करे, आत्मा की अधोगति न करे। मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र और शत्रु है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार हम जो कुछ भी भीतर ग्रहण करते हैं। इन सबका निर्णय कर्म द्वारा ही होत है। आज हम अपनी वर्तमान स्थिति में जो कुछ भी हैं उसके जिम्मेदार हम स्वयं हैं।

यदि साधक स्वर्ग आदि फल की अभिलाषा से नित्य–नैमित्तिक कर्म करता है तो उस कर्मयोगी को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। वे कर्म तो केवल स्वर्ग का फल देकर क्षीण हो जायेंगे। यही सकाम कर्म है किन्तु यदि नित्य–नैमित्तिक कर्म जब निष्काम बुद्धि से किये जाते हैं तब वे चित्त को शुद्ध करते हुए साधक मोक्ष को प्राप्त होता है। यही निष्काम कर्म योग है।

क्या मनुष्य के द्वारा निष्काम कर्म संभव है। कहा भी गया है–प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते। अर्थात् प्रयोजन के बिना कोई अदना काम भी नहीं होता। यदि ऐसा है तो फिर निष्काम कर्म क्या है? यह परम सत्य है कि कामनारहित कोई भी कर्म संभव नही है। यदि मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म किया जाये तो वह भी मोक्ष की कामना से युक्त कर्म हुआ।

वेदों के अनुसार वे कर्म जो लौकिक कामना, इच्छा आदि फल को प्राप्त करने के लिए प्रारम्भ किये जाते हैं वे सकाम कर्म हैं। यदि लौकिक कर्म कर्मफल की इच्छा न कर केवल मोक्ष की कामना से जब कर्म किया जाता है तब उस मोक्ष की कामना को कामना नहीं कहते हैं। ऐसी शास्त्र मर्यादा है। इस शास्त्र मर्यादा के पीछे कारण यह है कि मोक्ष का स्वरूप कूटस्थात्मरूप है। अर्थात् आत्मरूप मोक्ष जीवों को नित्य प्राप्त है। अतः मोक्ष नित्य प्राप्त होने के कारण आत्म प्राप्ति की कामना भ्रमरूप है। इसलिए आत्मा मोक्षरूप होने के कारण मोक्ष–कामना कामना नहीं है। अतः मोक्ष–कामना से किये हुए कर्म को निष्काम कर्म कहा है। अतः जीवन मुक्त भगवान कृष्ण के द्वारा कहे गये उपदेश आदि सब निष्काम कर्म है। जैनदर्शन के अनुसार सर्वज्ञता या कैवल्य की प्राप्ति में कर्मों का बन्धन नहीं होता है। वहां केवल आयुष्य कर्म शेष रहता है। वह कैवल्य की स्थिति यही निष्काम कर्म है।

जैसाकि श्री विद्यारण्य स्वामी पंचदशी के छठे प्रकरण में लिखते हैं कि शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा और अहंकार वास्तव में एक–दूसरे से भिन्न है। अविवेक के कारण ये एक है। ऐसा निश्चय करके मुझे अमुक–अमुक वस्तु चाहिए, ऐसी इच्छा जीव करता है। ऐसी इच्छा को काम कहते हैं। आत्मा और अन्तःकरण का भेदमूलक हो जाने पर यदि ज्ञानी करोड़ों वस्तुओं की भी इच्छा करे तो ग्रंथि भेद हो चुकन के कारण उसमें कोई हर्ज नहीं। क्योंकि उस इच्छा को काम नहीं कहा जा सकता।

जैसे हीरे, माणक आदि रत्न पाषाण हैं किन्तु वे पाषाण होते हुए भी उन्हें कोई पाषाण नहीं कहता है। इसी तरह अंतिमसंस्कार के समय घड़ा फोड़ने के लिएकिया गया छोटा सा पाषाण होता है। वह पाषाण ही है पर श्रेष्ठजन उसे 'अश्मा' ही कहते हैं। अतः ऐसे कर्म जो मोक्ष की कामना से किये हुए हों वे कर्म निष्काम कर्म ही हैं ऐसा शास्त्रों में लिखा है।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि मनुष्य पहले चित्त को शुद्ध करे। यह चित्त की शुद्धि पहले कर्म (निष्काम) से और फिर कर्म संन्यास से होती है।

एकाग्रताके साधन रूप चित्त शुद्धि की इच्छा करने वाली मननशील व्यक्ति के लिए (निष्काम) कर्म को ही साधन रूप कहा गया है। इस प्रकार चित्त के एकाग्र हो जाने पर उस मुनि के लिए अकर्म ही साधन है।

अतः जब शरीर और मन के सारे मल व विकार जब नष्ट हो जाते हैं। जब मन कर्म बीजों से मुक्त हो जाता है तब साधक पूर्ण एकाग्रता को प्राप्त करता हुआ निर्वाण और समाधि को प्राप्त करता है।

गीता में भगवान कृष्ण ने कहा भी है कि 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्म में प्रवीणता ही योग है।

कर्मयोग से कषायों का नाश होता है, चित्त शुद्धि होती है एवं हाथों में कुशलता आती है।

कर्म करने वाली इन्द्रियों को सदा कर्म करने का जो अभ्यास है उसके अनुसार उन्हें ऐसे सद्कर्मों में लगाना जिससे शरीर शुद्ध और मन पवित्र हो जिससे साधना में उन्नति हो, कर्म योग है।

शरीर क्रिया स्वभाव वाले मनुष्य के लिए कर्म योग का मार्ग उत्तम है।

कर्म योग में मुख्यतया दो बातों को ध्यान में रखना चाहिए। प्रथम–किस प्रकार का कर्म करना चाहिए एवं द्वितीय–उस कर्म को करने की सही विधि क्या है? इसके लिए गीता में कहा गया है–

कौन–सा कर्म करना चाहिए और कौन–सा नहीं करना चाहिए। इसका निर्णय करने के लिए तुम्हारे पास शास्त्र ही प्रमाण है। इस विषय में शास्त्र की आज्ञा जानकर तुम्हें उसी के अनुसार कर्म करने चाहिए।

हम इससे पहले अनगिनत बार अनेकों योनियों में जन्म ले चुके हैं। उन सभी जन्मों में किये गये कर्म इस जन्म में वासना (संस्कार) रूप से हमारे चित्त में मौजुद है और ये वासनायें ही हमें उचित या अनुचित कर्म करने के लिए प्रेरित करती हैं। जन्म बन्धन की मुक्ति के लिए यह आवश्यक है कि हम वासना रूपी आसक्ति से मुक्त हों और इसके लिए एकमात्र जो उपाय है वह है–शास्त्रसम्मत कर्म करना।

ईशोपनिषद् में कहा है–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।

अर्थात् जो मनुष्य विद्या और अविद्या दोनों को जानता है वह अविद्या (कर्म) के द्वारा मृत्यु को लांघकर विद्या की सहायता से शाश्वत आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

अतः शास्त्रों के अनुसार कर्म करने वाला मनुष्य अनुचित प्रवृत्तियों का त्याग कर जन्म–मरण के बन्धन से मुक्ति पा सकता है।

हमारे शास्त्रों में स्वर्ग–नरक का विधा है। उसके अनुसार अच्छे कर्म करने वाला प्राणी स्वर्ग व बुरे कर्म करने वाला प्राणी नरक गति को प्राप्त होता है। स्वर्ग और नरक में अपने–अपने कर्मों को भोगने के पश्चात् जो थोड़े अंश में कर्म शेषरत रह जाते हैं उन्हीं कर्मों के अनुसार हमारा उत्तम या निम्न योनियों में

जन्म होता है। अतः जिस–जिस प्रकार के कर्म किये उसे उसी के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्य भिन्न प्रकार की योनियों में जीव का जन्म होता है।

वर्णाश्रम के सिद्धान्तों में तो यहां तक कहा गया है कि यदि एक ब्राह्मण कुल का व्यक्ति ब्राह्मणोचित कर्म करता है तो उसे पुण्य मिलता है और यदि वही ब्राह्मण एक क्षत्रिय का काम करता है तो उसे पाप का भागी बनना पड़ता है।

इसका सुन्दर वर्णन गीता में जो मिलता है कि जब अर्जुन कुरूक्षेत्र में अपने प्रियजनों को युद्ध भूमि में मारने की अपेक्षा ये कहता है कि इससे तो अच्छा है मैं भिक्षाटन करके अपने जीवन का निर्वाह करूं। तब भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! इस धर्मयुद्ध में अपने स्वजनों को मारने पर भी तुम्हें पुण्य ही मिलेगा क्योंकि तुम एक क्षत्रिय हो। हमारे शास्त्रों के अनुसार क्षत्रिय का धर्म है–युद्ध करना। अतः क्षत्रिय का युद्ध क्षेत्र में युद्ध न करना पाप कर्म है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

अर्थात् हे कुन्ती पुत्र, तुम्हें अपने सहज कर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिए, चाहे उस कर्म में कितने ही दोष क्यों न हो।

अब हमें अपने कर्तव्यों (कर्मों) को किस प्रकार से करना चाहिए। इसके लिए भगवान कृष्ण कहते हैं–

तदस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।

अर्थात् तुम्हें सदा कर्तव्य कर्म करना चाहिए, किन्तु आसक्ति रहित होकर। अर्थात् हमें अपने कर्तव्यों का पालन इसलिए करना चाहिए कि वह हमारा कर्तव्य है, न कि इसलिए कि हमें वह प्रिय है। इसके लिए भगवान कृष्ण कहते हैं–

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमान्पोति नैष्ठिकीम्।

अर्थात् योगी कर्मफल का त्यागकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है।

एक कर्मयोगी अपने अंतःकरण की शुद्धि के उद्देश्य के लिए ही कर्म करता है। कर्म योगी को सफलता मिले या न मिले उसके मन में कभी क्षोभ उत्पन्न नहीं होना चाहिए।

गीता कहती है कि सच्चे कर्मयोगी को कर्म करते समय कभी भी आत्मा के स्वरूप को नहीं भूलना चाहिए क्योंकि सारे कर्म शरीर, मन और इन्द्रियों से होने वाले हैं न कि आत्मा के द्वारा। परन्तु अज्ञानी लोग आत्मा को ही कर्त्ता मानने लगते हैं, यही अहंकार है।

एक सात्विक कर्म योगी के लिए कहा है–

सात्विक कर्त्ता वह है जो आसक्ति रहित है, अहंकार से शून्य है, धैर्य और उत्साह से पूर्ण है और सिद्धि अथवा असिद्धि में सम है।

यहां यह शंका पैदा होती है कि कर्म तो बंधन का कारण है और प्रत्येक कर्म का हमें फल भोगना ही पड़ेगा। अतः कर्म को छोड़ना ही बुद्धिमानी है। इसके लिए भगवान कृष्ण कहते हैं कि कर्म का सर्वदा त्याग संभव नहीं है–

शरीयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।

यदि तुम कर्महीन हो जाओगे तो तुम जी भी नहीं सकते। क्या हम भोजन के बिना रह सकते हैं? यदि हमने भोजन का त्याग भी कर दिया तो हमारा मन भोजन के चिन्तन में ही लगा रहेगा, जो अपने आप में एक कर्म है जिसका की हमें फल भुगतना पड़ेगा। गीता कहती है कि हमें कर्मों का फल तभी भोगना पड़ता है जब हमारी इच्छा कर्मफल में हो। यदि बिना इच्छा और आसक्ति के कर्म किये जाते हैं तो उन कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता है।

जैनदर्शन में भी जब तीर्थंकर सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेते हैं फिर भी आयुष्य कर्म के कारण उनको इस संसार में सशरीर के साथ रहना पड़ता है और वे लोक कल्याण हेतु अपनी वाणी से लोगों का उद्धार करते हैं। आयुष्य कर्म के पूर्ण होने तक उनके द्वारा किये गये सभी कर्म आसक्ति रहित होने के कारण ही उनके बन्धन के कारण नहीं बनते हैं और आयुष्य पूर्ण कर वे मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। अतः इच्छा और आसक्ति रहित किये हुए कर्म मोक्ष का मार्ग है।

वेदों में कर्म के चार प्रकार–

1. नित्य कर्म– जिसके न करने से पाप होता है और करने से कोई फल नहीं होता।
2. नैमित्तिक कर्म– जिसका सदा विधान नहीं, किन्तु जो किसी निमित्त को लेकर किया जाता है।
3. काम्य– जिसका विधान किसी फल के निमित्त है।
4. प्रायश्चित्त– जिसका विधान पाप नाश के लिए है।

कर्म योगी कार्य करने में कुशल होता है, उसे कार्य करने का ज्ञान होता है। वह कर्तव्य बुद्धि से कर्म करता है, उसे उस कर्म या फल में कोई आसक्ति नहीं होती है। वह कर्म के फल को भगवान के चरणों में समर्पित कर देता है।

कर्म और चरित्र का सम्बन्ध

चरित्र का निर्माण कर्मों से होता है। इसलिये चरित्र पर कर्म का प्रभाव अत्यधिक पड़ता है। हम जो भी कर्म करते हैं उसकी छाप हमारे चित्त पर पड़ती है जिसे हम संस्कार कहते हैं। ये संस्कार जो स्थायी हो जाते हैं ये आन्तरिक रूप से अधिक प्रबलता के साथ बाद में व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। अर्थात् आज हम जो कुछ वर्तमान में है वह संस्कारों का प्रभाव है। कर्मों से संस्कारों का निर्माण होता है। संस्कार से चरित्र का निर्माण होता है। पुनः व्यक्ति का जैसा चरित्र होगा वह पुनः वैसे ही कर्म करने के लिये प्रयास करेगा। व्यवहारिक भाषा में हम प्रायः ये कहते हैं कि अच्छे संस्कारों वाला व्यक्ति अच्छे कर्म करता है और बुरे संस्कारों वाला व्यक्ति बुरे कार्य करता है। तो यहां चरित्र की बात करने की आवश्यकता ही क्या है? यहां अवश्यकता इसलिये है कि एक व्यक्ति जो बुरा है, सभी को इसका पता भी है फिर भी वह बुरा व्यक्ति आप अपने किसी स्वार्थ को लेकर दूसरों के लिये एक अच्छा कार्य कर रहा है। इस अच्छे कार्य से वह व्यक्ति चरित्रवान तो नहीं हो सकता। क्योंकि इस व्यक्ति के संस्कारों में अभी भी स्वार्थ की भावना है। चरित्र वह उच्च कोटि का संस्कार है जो व्यक्ति को कुमार्ग पर ले जाने से बचाता है।

कर्मों के विविध वर्गीकरण

1. सकाम,	2. निष्काम		
1. कर्म,	2. विकर्म,	3. अकर्म	
1. श्रोत कर्म,	2. स्मार्त कर्म,	3. पौराणिक कर्म	
1. संचित कर्म,	2. प्रारब्ध कर्म,	3. क्रियमाण कर्म	
1. सात्विक कर्म,	2. राजसिक कर्म,	3. तामसिक कर्म	
1. नित्य,	2. नैमित्तिक,	3. काम्य,	4. निषिद्ध
1. शुक्ल,	2. कृष्ण,	3. शुक्ल–कृष्ण,	4. अशुक्ल–अकृष्ण
1. जनक,	2. उपष्टम्भक,	3. उत्पीडक,	4. अपघातक
1. गुरुकर्म,	2. आसन्न कर्म,	3. आचरित कर्म,	4. उपचित कर्म
1. ज्ञानावरण,	2. दर्शनावरण,	3. मोहनीय,	4. अन्तराय,
5. वेदनीय,	6. आयु कर्म,	7. नाम कर्म,	8. गोत्रकर्म।

1. सकाम कर्म– कर्म के प्रति ममत्व एवं अहंकार की भावना
2. निष्काम कर्म– ममत्व एवं अहंकार रहित कर्म
3. कर्म– समाज में रहते हुए वर्णाश्रम में अपने कर्तव्यों के लिए किये जाने वाले कर्म
4. विकर्म– आचार्य विनोबा भावे के अनुसार चित्त–शुद्धि के लिय किये जाने वाले कर्म विकर्म हैं।
5. अकर्म– कर्म न करना अकर्म है।
6. श्रोत कर्म– जिनका विधान वेदों में किया गया है।
7. स्मार्त कर्म– स्मृतियों में विभिन्न वर्णों एवं आश्रमों के लिए किये जाने वाले कर्म।
8. पौराणिक कर्म– जिनका विधान पुराणों में मिलता है।
9. संचित कर्म– अब तक या पूर्व जन्मों के कर्म।
10. प्रारब्ध कर्म– संचित कर्मों के फल का भोग।
11. क्रियमण कर्म– वे कर्म जो अभी सम्पन्न हो रहे हैं।
12. सात्विक कर्म– फल के प्रति उदासीन रहकर राग और द्वेष से मुक्त होकर किये जाने वाले कर्म।
13. राजसिक कर्म– फल के प्रति आसक्ति एवं अहंकार की भावना।
14. तामसिक कर्म– बिना परिणाम जाने मूढ़तावश किये जाने वाले कर्म।
15. नित्य कर्म– ऐसे कर्म जिनको करने से विशेष कर्म फल नहीं होता।
16. नैमित्तिक कर्म– किसी कारण विशेष से करना पड़ता है।
17. काम्य कर्म– किसी विशेष कामना को पूरा करने के लिये शास्त्रीय विधान से किये जाने वाले कर्म।
18. निषिद्ध कर्म– जिन्हें न करने से विशेष फल नहीं होता।
19. जनक कर्म– कुशल और अकुशल चेतना ही जनक कर्म है।
20. उपष्टम्भक कर्म– जनक कर्म के फल में सहायक।
21. उत्पीडक कर्म– जनक कर्म के परिणाम को कम करने वाला।
22. उपघातक कर्म– एक बाधक कर्म जो उपष्टम्भक कर्म को नष्ट कर अपने फल का परिणाम देता है।
23. शुक्ल कर्म– राग और द्वेष से मुक्त होकर किये जाने वाले कर्म जिससे किसी भी प्राणी को कोई कष्ट नहीं होता है।
24. कृष्ण कर्म– वो कर्म जो इस संसार चक्र के बन्धन में बांधे रखते हैं।
25. शुक्ल–कृष्ण कर्म– जिनसे पाप और पुण्य मिलते हैं।
26. अशुक्ल–अकृष्ण कर्म– जहां धर्म और अधर्म की उत्पत्ति ही नहीं होती।
27. गुरु कर्म– जन्म–क्षण के समय ही अपना फल देने वाला कर्म।
28. आसन्न कर्म– यह कर्म भविष्य का नियामक है।
29. आचरित कर्म– मृत्यु के समय अशुभ कर्मों के उदय को दूर करने के लिए किया जाने वाला चिन्तन।

30. उपचित कर्म– उपचित्त कर्म भावी जीवन का नियमन करते हैं।

31. ज्ञानावरण– वह कर्म जो जीव में ज्ञान को प्रकट नहीं होने देता है।

32. दर्शनावरण– इन्द्रियों को पदार्थों से प्रभावित न होने देने वाला।

33. वेदनीय– सुख और दुःख का अनुभव कराने वाला।

34. मोहनीय– आसक्ति को पैदा करने वाला कर्म।

35. अन्तराय– आत्म शक्ति को प्रकट होने में बाधक कर्म।

36. आयुष्य– विभिन्न योनियों के शरीरों में बांधने वाला।

37. गोत्र कर्म– नीच कुल में उत्पन्न करने वाला।

38. काम कर्म– शरीर को नाना अवस्थाओं में उत्पन्न करने वाला।

कर्मयोग की विशेषताएँ–

1. केवल नियत कर्म का सिद्धांत
2. फल की इच्छा का अभाव
3. आसक्ति का अभाव :–
4. समत्व बुद्धि
5. सर्वत्र समान व्यवहार
6. काम्य संकल्पों का भी त्याग
7. कर्मों का ईश्वरार्पण तथा शरणागति भाव

(घ). मंत्रयोग–

"मननात् त्रायते इति मन्त्रः"

1. मननात् – मन का बंधन
2. त्रायते – मुक्त
3. इति – द्वारा या इस प्रकार और
4. मन्त्रः – कम्पन की शक्ति

अर्थात् वह शक्ति जो मन को बंधन से मुक्त करती है मंत्र शक्ति है।

वैदिक युग में जप का स्वरूप स्वाध्याय था। गुरुमुख से वेदाध्ययन और वेद मंत्रों का जप ही मुख्य तप था और बहुत समय काल तक ऐसा ही चलता रहा।

शाण्डिल्योपनिशद् में जप के विषय में कहा है –

जपो नाम विधि वदुरूपदिष्टवेदाविरुद्ध–मंत्राभ्यासः।

अर्थात् विधिपूर्वक गुरु ने जिस वैदिक मंत्र का उपदेश दिया है, उसका अभ्यास करना।

रामायणकाल में भी स्वाध्याय की परिपाटी थी। इस बात का रामायण में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् श्रीराम यजुर्वेद का स्वाध्याय करते थे। महाभारत काल तक यह परिपाटी पूरे जोरों तक चलती रही पर इसके बाद स्वाध्याय रूप जप–तप उत्तरोत्तर कम होता गया और एक जो बड़ा परिवर्तन हुआ वह यह था कि भक्तिमार्ग, तीर्थ, देव मन्दिर आदि का प्रचलन बढ़ने लगा। वैदिक मंत्र धीरे–धीरे पिछड़ते गये और

पौराणिक तंत्र, मंत्र आदि का जोर–शोर से प्रचार हुआ। हालांकि साधक का साध्य पहले वाला ही था पर साधन बदलते गये। और समय के साथ अनेकानेक योग (साधन) की पद्धतियां उभरकर आई।

मंत्रों का जप अनेक प्रकार से किया जाता है–

नित्य जप– इसमें गुरु से प्राप्त मंत्र का नियमित जाप करना अनिवार्य है। आपातकाल, बीमारी, यात्रा आदि तथा यदि स्नान न भी किया हो तो हाथ मुंह धोकर कुछ देर के लिये तो मंत्र का जप अवश्य ही करना चाहिए। नित्य जप से जप का अभ्यास बढ़ता है, चित्त पवित्र होता है, आनन्द की अनुभूति होती है, विचार शुद्ध होने लगते हैं। धर्माचरण में मन लगता है पाप कर्मों से घृणा होने लगती है आदि।

प्रदक्षिणा जप– नाम के अनुरूप इस जप में किसी वृक्ष, मन्दिर, मूर्ति, शिवलिंग आदि की परिक्रमा करते हुए मंत्रों का जाप किया जाता है। इससे साधक की मनोकामना पूर्ण होती है।

नैमित्तिक जप– वह जप जो किसी निमित्तवश किया जाता है। यह जप देव–पितरों के सम्बन्ध में होता है। कुछ विशेष पर्व या तिथियों जैसे एकादशी, पूर्णिमा, अमावस्या, महाशिवरात्रि, कृष्णाअष्टमी, रामनवमी, नवरात्रा, गणेशचतुर्थी, दीपावली आदि शुभ दिनों में इन मंत्रों का जप अतिरिक्त भी करना चाहिए। ग्रहण के दिनों में भी एकान्त जगह पर बैठकर अतिरिक्त जप करने पर सिद्धियों की प्राप्ति एवं पुण्य संग्रह बढ़ता है तथा पापों का नाश होत है।

काम्य जप– काम्य जप का प्रयोग कामना की सिद्धि या पूर्ति के लिए किया जाता है। काम्य जप मोक्ष चाहने वालों के लिय नहीं है। काम्य जप के लिए नियमों का पूर्ण पालन, ब्रह्मचर्य, पवित्रता, सावधानी, जागरूकता, इन्द्रियों पर संयम, वाक् संयम, अल्प मिताहार और शयन का होना आवश्यक है। यदि विधिपूर्वक मंत्र का जाप, मन की पूर्ण एकाग्रता से किया जावे तो अवश्य ही कामना की पूर्ति होती है। इन मंत्रों के जप से पुण्य प्राप्त तो होता है पर भोग से उसका क्षय भी होता है। अतः साधक प्रज्ञ पुरुष इसे अच्छा नहीं मानते हैं।

निषिद्ध जप– वह जप जिसे मनमाने ढंग से अनियम और विधिपूर्वक न किया जावे निषिद्ध जप है। यह मंत्र जाप बहुत ही बुरा माना गया है। इस प्रकार मंत्र जाप से लाभ के बदले हानि होने की संभावना ज्यादा रहती है।

प्रायश्चित्त जप– जब व्यक्ति से अनजाने में या प्रमादवश कोई दोष या अपराध हो जावे तब उसके प्रभाव को कम या दूर करने के लिए प्रायश्चित्त जाप किया जाता है। यदि दोषों का परिमार्जन न हो तो मनुष्य के अशुभ कर्मों के संचित होने के कारण उसे अनेक दुःखों को भोगना पड़ता है। अतः पापों को क्षीण करने के लिए प्रायश्चित्त जप वर्तमान काल में एक परम उपाय है। प्रायश्चित्त जप के लिए अल्प दोष के लिए अल्प और अधिक दोष के लिए अधिक जाप का विधान है।

अचल जप– अचल जप को प्रारम्भ करने से पहले व्यक्ति को व्यवहारिक और मानसिक रूप से स्वस्थ होना जरूरी है। इस जप से व्यक्ति के अंदर सोई हुई शक्तियों का जागरण होता है। जप निश्चित संख्या से कभी भी कम नहीं होना चाहिए। स्थान, समय, स्वच्छता आदि का अवश्य ध्यान रखें।

चल जप– इस जप में आते–जाते, उठते–बैठते, देते–लेते, काम करते, आहार करते, सोते–जागते, रति–सुख भोगते आदि सर्व कामों में लोकलाज को छोड़कर केवल भगवचिन्तन में ही लगा रहे वही चल जप है। यह जप एक तरह से नाम–स्मरण की तरह है।

इस जप को कोई भी कर सकता है। कोई नियम नहीं, कोई बन्धन नहीं। फिर भी साधक को निन्दा, कटुभाषण, चुगली, अधिक बोलना आदि से बचना चाहिए। इस प्रकार के मंत्र जाप से वाक् की शुद्धि होती है और वाक्शक्ति प्राप्त होती है। इससे मन प्रसन्न रहता है, व्यक्ति सदा सुरक्षित रहता है और परमार्थ को प्राप्त होता है। बिना माला के चलने वाले इस जप को बिना होंठ हिलाये चुपचाप करना चाहिए। जिससे किसी को मालूम न हो।

वाचिक जप– इस जप में उच्चारण इतना तेज होता है कि स्वयं के साथ दूसरों को भी मंत्र की ध्वनि सुनाई दे। हालांकि तीन प्रकार (वाचिक, उपांशु और मानसिक) जपों में यह जप निम्न कोटि का माना जाता है। परन्तु मंत्र साधक के लिए प्रथम–स्तर पर वाचिक जाप करना ही सरल है। शब्दों की अपनी शक्ति होती है अतः वाचिक जप से सूक्ष्म रूप से यौगिक लाभ प्राप्त होता है। बीज मंत्रों के उच्चारण से षट्चक्रों की शक्ति का जागरण होने लगता है जिससे वाक्सिद्धि की प्राप्ति होती है।

उपांशु जप– वाचिक जप के बाद उपांशु जप का स्थान है। इस जप में उच्चारण के साथ होंठ हिलते हैं। उच्चारण स्वयं साधक ही सुन सकता है दूसरे किसी को सुनाई न दे। उपांशु जप का मन पर प्रभाव पड़ता है जिससे एकाग्रता आरम्भ होकर वृत्तियां अन्तर्मुखी होने लगती है। साधक धीरे–धीरे स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश करता है।

भ्रमर जप– वह जप जिसमें भंवरे की तरह गुनगुनाते हुए जप किया जाता है वह भ्रमर जप है। इस जप में होठ नहीं हिलते हैं और न ही जीभ को भी हिलाने की विशेष आवश्यकता पड़ती है। इस जाप का जप करने पर आज्ञा चक्र पर प्रकम्पन महसूस होने लगता है। धीरे–धीरे स्वाभाविक कुम्भक लगने लगता है। पूरक जल्दी तथा रेचन धीरे–धीरे होने लगता है। अभ्यास के साथ पूरक करने पर गुंजन प्रारम्भ हो जाता है। प्राणों के संचार से षट्चक्रों का जागरण प्रारम्भ हो जाता है। मस्तिष्क में हल्कापन महसूस होने लगता है। स्मरण शक्ति का विकास होता है। साधक को आंतरिक प्रकाश के दर्शन होने लगते हैं। जिस प्रकार से बीन की आवाज से सांप उस लय में लीन हो जाता है ठीक उसी प्रकार गुंजन के नाद से मन उसमें लीन हो जाता है और नादानुसंधान का मार्ग सहज और सुगम हो जाता है। चित्त को एकाग्र करने का इससे अच्छा और श्रेष्ठ दूसरा कोई उपाय नहीं है। साधक के सभी विकार नष्ट होकर आध्यात्मिक शक्तियों का जागरण हो जाता है। इससे आंतरिक तेज बहुत बढ़ जाता है और दिव्य जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है।

मानस जप– जपों का राजा मानस जप है। सभी जपों का प्राण मानस जाप है। मानस जप के अंतर्गत मंत्रों का उच्चारण नहीं होता है। मन से ही मंत्रों की आवृत्ति की जाती है। मंत्रों का अर्थ सहित चिन्तन इसमें मुख्य है। हर मंत्र का अपना अक्षरार्थ और कूटार्थ होता है। जिसके जानने से इष्ट के स्वरूप का बोध होने लगता है। सर्वप्रथम इष्ट के सगुण ध्यान का जाप किया जाता है। उसके बाद निर्गुण स्वरूप का ज्ञान होता है। यदि नादानुसंधान के साथ मानस जप का प्रयोग किया जाये तो यह योग परम उपकारी हो जाता है।

अखण्ड जप– अखण्ड जप का प्रावधान त्यागी और योगी पुरुषों के लिये ही हितकर है। आवश्यक दिनचर्या को छोड़कर बाकी सारा समय अखण्ड जप में ही लगाया जाता है। चूंकि बराबर जप करते रहने से मंत्र में अरूचि पैदा होना स्वाभाविक है। जब मन उचटने लगे थोड़ा समय ध्यान में लगाकर तत्त्वचिन्तन करें और पुनः जाप करें। कहा भी गया है कि–

जप करते–करते जब थक जायें तब ध्यान करें, ध्यान करते–करते जब थक जायें तब जप करें, ध्यान करते–करते थकें तब फिर जप करें और जब जप तथा ध्यान दोनों से थकें तब आत्मतत्त्व का विचार करें।

जप, ध्यान और तत्त्वचिन्तन सतत् करना ही अखण्ड जप है। यदि कोई साधक बारह वर्ष पर्यन्त सात्विकता के साथ अखण्ड जप का प्रयोग करे तो उसे महासिद्धि की प्राप्ति होती है। यही तप कहलाता है।

अजपा जप– यह सहज जप है। इस जप में माला की आवश्यकता नहीं रहती है। श्वास–प्रश्वास के साथ मंत्र क्रिया बराबर चलती रहती है। अजपाजप से सहस्त्रों संख्या में मंत्र का जप होता रहता है। इस विषय में एक महात्मा कहते हैं–राम हमारा जप करे हम बैठे आराम।

योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि ने मंत्र जप के साथ अर्थ की भावना का भी विधान करते हुए कहा है–तज्जपस्तदर्थभावनम्।

निरूक्त में भी कहा है कि अर्थ को बिना जाने वाले मंत्रों का पाठ मात्र करना निन्दनीय है और वेद मंत्रों के अर्थ को जानने वाले की प्रशंसा की गई है।

ऊँकार, ह्रींकार प्रभृति पिण्ड मंत्रों के स्थूल वर्णों का क्रमशः उच्चारण करने के बाद बिन्दु, अर्धचन्द्र, नाद, नादान्त आदि सूक्ष्म कलाओं का क्रम से सूक्ष्म उच्चारण करने से साधक शिव बन जाता है।

मंत्र अर्थात् मनन करने से त्राण (रक्षा) करता है, इसलिये इसको मंत्र कहते हैं क्योंकि मंत्र का मनन करने से उस पर छाया का जाल मिट जाता है।

चिद्विलास स्तव में बताया गया है कि आत्मा, चक्र, मंत्र और देवता इनकी आसन के रूप में भावना का अर्थ इनमें शिवमयता की भावना करना है, जिनमें मंत्रासन (मंत्र) भी एक है। अर्थात् ये चारों शिवमय ही हैं।

श्रीभगवती को मंत्ररूपिणी कहा गया है। मनन करने वाले साधक की रक्षा करने वाली यह शक्ति उस समय मंत्ररूपिणी हो जाती है। अर्थात् मनन करने वाले साधक को ब्रह्मयता प्रदान कर उसकी रक्षा करने वाली या तुरीय स्वरूप महाविधा मनन त्राण रूप मंत्र के धर्मों को धारण करती है, इसलिए इसे मंत्ररूपिणी कहा है।

वाणी के चार भदे बताये गये हैं– परा, पश्यन्ति, मध्यमा एवं वैखरी। वाणी के तीन भेद छुपे हुये रहते हैं, साधारण जन केवल चतुर्थ रूप वैखरी वाणी से ही अपना व्यवहार चलाते हैं।

मंत्र योग के सिद्धान्त के अनुसार यह संसार नामरूपात्मक है। जीव नाम और रूप से ही अविद्या में फंसा हुआ है। मंत्र योग के अनुसार मनुष्य जिस भूमि पर गिरता है उसी को आलम्बन लेकर वह उठ सकता है। अर्थात् नाम और रूप के अवलम्बन से जब वह फंसता है तो नाम और रूप के अवलम्बन से वह मुक्त भी हो सकता है। मंत्र योग के ध्यान को स्थूल ध्यान कहते हैं। मंत्र योग के साधनों को सोलह भागों में विभक्त किया गया है। जैसे–दिक्शुद्धि, स्थान शुद्धि, मंत्रजप, स्तुति, न्यास आदि। मंत्र योग से प्राप्त होने वाली समाधि को महाभाव समाधि कहते हैं।

वर्णमाला के अक्षर केवल औपचारिक ही नहीं होते उनका मंत्रों की शक्ति के साथ सम्बन्ध होता है। य, र, ल, व, श, स अक्षरों में से र अक्षर पर विशेष जोर देकर बताया गया है कि अनुनासिक सहित अर्थात् बिन्दु सहित 'र' अक्षर का यदि हजार बार उच्चारण किया जाये तो शरीर में एक डिग्री उष्णता बढ़ जाती है। यदि सर्दी बढ़ी हुई है तो 'ख' अक्षर का उच्चारण किया जाये तो सर्दी मिट जाती है। यदि 'म' का उच्चारण किया जाये तो लीवर के रोग दूर होते हैं।

मंत्रों के उच्चारण में अल्प विराम और पूर्ण विराम का विशेष ध्यान रखना चाहिए। यदि मंत्र के शब्दों, वाक्य का सही उच्चारण करते हुए भी यदि अल्पविराम या पूर्ण विराम का ध्यान नहीं रखा जाता है तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इस प्रकार का उच्चारण कर्म बन्धन का कारण बनता है।

भारतवर्ष में मंत्र विद्या का प्रचार–प्रसार बहुत ही असाधारण था। यदि इतिहास की पांचवी से दसवीं सदी पर दृष्टि डालें तो इन पांच सौ वर्षों में केवल भारतवर्ष में मंत्र शास्त्र के सम्बन्धित ढाई हजार से अधिक ग्रन्थ केवल बौद्ध भिक्षुओं ने ही लिख डाले थे। जिनमें कई दुर्लभतम् और प्रसिद्ध मंत्र शास्त्र रहे हैं।

मंत्र साधना के लिए कुछ उपयोगी एवं करने योग्य बातें–

1. साधक का अल्पाहारी होना जरूरी है।
2. साधक अल्पाहार में केवल सात्विक भोजन ग्रहण करे।
3. साधक को विषय विकारों से दूर रहते हुए अपने वीर्य की रक्षा करनी चाहिए।
4. मंत्र साधना में समय का विशेष ध्यान रखना चाहिए।
5. साधक निर्मोही, निर्लोभी, निष्कपटी, निःक्रोधी होना चाहिए।

6. साधक सभी व्यसनों से मुक्त हो।

7. हर मंत्र की साधना सम्पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण विराम के साथ करें। मन में कोई संशय या शंका आदि न रखें।

8. मंत्रों का उच्चारण स्पष्ट हो तथा मंत्र के अर्थ का ज्ञान हो।

9. मंत्र साधना की नियमितता को बनाये रखें।

मंत्र छः प्रकार के बताये गये हैं–वशीकरण, स्तम्भन, आकर्षण, शांतिक, पौष्टिक, मारण, विद्वेषण और उच्चाटन। इन नामों के अनुसार ही इनके मंत्र अपना काम करते हैं। मंत्र का आरंभ शुभ मास, शुभ दिन और शुक्ल पक्ष में शुभ चन्द्रमा का योग आने पर शुरू करें।

मंत्र के आरम्भ में नाम लिखना दीपन, अंत में नाम लिखना पल्लव, मध्य में संपुट, प्रारम्भ, मध्य और अंत में रोधन, मंत्र के एक एक अक्षर के बाद एक एक नाम का अक्षर लिखना ग्रन्थन, मंत्र के दो अक्षरों के बाद नाम लिखना विदर्भण कहलाता है।

दीपन से शांति कर्म, पल्लव से विद्वेषण, संपुट से वशीकरण, रोधन से बन्धन, ग्रन्थन से स्त्री आकर्षण और विदर्भण से स्तंभन होता है।

दिन के पूर्व समय में वशीकरण, आकर्षण और स्तंभन कर्म करने चाहिए। मध्यान्ह में विद्वेषण, दिन के पिछले समय में उच्चाटन, शाम को निषेध कर्म, आधी रात को शान्ति कर्म, प्रभात में पौष्टिक कर्म करने चाहिए।

वशीकरण से सम्बन्धित कर्म बांये हाथ से तथा बाकी सभी कर्म दाहिने हाथ से करने चाहिए।

मंत्र योग के बारे में कहा गया है कि–

एकाक्षर 'ऊँ' मंत्र को, अथवा बहुरक्षात्मक 'ऊँ नमः शिवायः' मंत्र को, अथवा अष्टाक्षरात्मक 'ऊँ ह्रां ह्रीं नमः शिवाय' मंत्र को मंत्र क्रम के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए जपना मंत्र योग है।

भगवान शिव जोर देकर पार्वती से कहते हैं कि–

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्वरानने।

अर्थात् हे वरानने! मैं तीन बार प्रतिज्ञा करके कहता हूं जप से सिद्धि होती है, होती है, होती है।

भगवान मनु जपयज्ञ के बारे में कहते हैं–

दर्शपौर्णमासरूप कर्म यज्ञों की अपेक्षा जपयज्ञ, दस गुना श्रेष्ठ है। उपांशु जप सौ गुना और मानस जप सहस्र गुना श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञ ये चार पाकयज्ञ है– वैश्वदेव, बलिकर्म, नित्यश्राद्ध और अतिथि पूजन। वे जपयज्ञ के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हैं।

महर्षि पतंजलि ने भी अपने योगसूत्र में मंत्र सिद्धि के बारे में बताते हुए कहते हैं कि इष्ट के मंत्र जप से इष्ट के दर्शन होते हैं।

नाम स्मरण और मंत्र जप

नाम स्मरण और मंत्र जप ये दोनों साधना के अलग–अलग साधन हैं। मंत्रों का निर्माण विशिष्ट पद्धति से और मंत्र शक्ति की विशेषज्ञों, अनुभवी ऋषियों के द्वारा हुई है। मंत्रों का अर्थ बहुत गहन होता है। मंत्र परम्परा या जप के कारण सिद्ध और अमोघ फलदायक होते हैं।

मंत्रों का जप अनेक प्रकार से किया जाता है।

मंत्र योग के अंग

हमारे शास्त्रों में मंत्र योग के सोलह अंगों का विस्तृत वर्णन मिलता है जिनका संक्षेप रूप यहां दिया गया है–

1. मंत्र योग का पहला अंग है– भक्ति

विधि साध्यमाना वैधी सोपानरूपा। (अ.दै.मी. सूत्र–11)

अर्थात् विधि से साधन होने वाली भक्ति को वैथी कहते हैं, वह सोपान रूप में है।

यहां वैधी–नवधा भक्ति से है जिसके नौ अंग निम्न प्रकार से हैं–श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन।

मंत्र योग का दूसरा अंग है– शुद्धि

शुद्धि के दो प्रकार बताये गये हैं–

1. बाह्य शुद्धि –शरीर की शुद्धि

–दिशा की शुद्धि–दिन में पूर्वमुख या उत्तर–मुख तथा रात्रि में उत्तरमुख बैठकर पूजा करें। (जिसका विशेष महत्त्व है)

–स्थान की शुद्धि–पीपल, बरगद, आंवला, अशोक आदि किसी पेड़ के नीचे बैठकर साधना करना

2. आन्तरिक शुद्धि–मन की शुद्धि–इन्द्रिय संयम, भय का अभाव, दान, यज्ञ आदि से होती है।

–शरीर की शुद्धि–यहां शरीर की शुद्धि आंतरिक शुद्धि से है जिसके सात प्रकार बताये गये हैं–

मंत्र स्नान–मंत्रों का उच्चारण करते हुए जल से स्नान करना

मौन स्नान–कपड़े से अंगों की अच्छी तरह से सफाई करना

वायव्य–गोरज के स्पर्श करने से

वारूण्य–तालाब आदि में गोता लगाकर

आग्नेय–भस्म लगाने से (अधिकतर तांत्रिक साधना में)

दिव्य–सूर्यदर्शन के होते उसे वर्षा में स्नान करना

मानस–अपने इष्ट के रूप का ध्यान करना

मंत्र का तीसरा अंग है–आसन

किसी भी साधना के लिए साधनानुकूल आसन का चुनाव आवश्यक है। योग ग्रन्थों में अनेक आसनों का वर्णन मिलता है जिनमें ध्यानासनों में पद्मासन, स्वस्तिकासन, सिंहासन आदि श्रेष्ठ आसन हैं। मंत्र जप के लिए पद्मासन एवं स्वस्तिकासन को श्रेष्ठ माना गया है। साधना के लिए आसन का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है–

पवित्र स्थान पर स्थिर आसन लगावे जो न बहुत ऊंचा हो न नीचा हो। पहले कुश का आसन, उस पर मृग चर्म, उस पर वस्त्र लगावें। अपनी चित्त और इन्द्रियों को वश में करके, एकाग्र मन से आसन पर बैठकर अपने शरीर, पीठ, मस्तक और गर्दन को समदेश में स्थिर रखकर इधर–उधर न देखते हुए दृष्टि को नासिका के अग्र भाग में जमाकर शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, निर्भय एवं ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ध्यान करें।

मंत्र का चौथा अंग है– पंचांग सेवन

यहां प्रचाग सेवन से तात्पर्य गीता, सहस्रनाम, स्तव कवच व हृदय का पाठ प्रतिदिन करने से है।

मंत्र योग का पांचवां अंग है–आचार

साधक की प्रवृत्ति के अनुसार तीन आचारों का वर्णन मिलता है कि सात्विक साधक के लिए दिव्याचार, राजसिक साधक के लिए दक्षिणाचार एवं तामसिक साधक के लिए वामाचार होता है।

मंत्र योग का छठा अंग है– धारणा

धारणा से साधक में एकाग्रता का विकास होता है जिसका अभ्यास दो प्रकार से किया जा सकता है–

बाह्य पदार्थों में धारणा करके (बहिर्धारणा) तथा अन्तर्जगत् के विषयों में धारणा (अन्तर धारणा)।

मंत्र योग का सांतवां अंग है–दिव्य देश सेवन

दिव्यदेश सोलह बताये गये हैं। धारणा की सिद्धि होने पर दिव्य देश का सेवन होता है।

मंत्र योग का आठवां अंग है– प्राण क्रिया

प्राणयाम से मन की एकाग्रता, नाड़ी की शुद्धता एवं शरीर निरोग होकर प्राणवान बनता है। शास्त्रों में सहित प्राणायाम को मंत्र योग में सहायक बताया गय है। पूरक, कुम्भक एवं रेचक के साथ मंत्र का प्रयोग सहित प्राणायाम है।

मंत्र योग का नवां अंग है– मुद्रा

अपने इष्ट देव की मुद्रा का प्रयोग करने पर अर्थात् मुद्रा के साथ मंत्रों का जाप फलदायी होता है। कुछ इष्ट देव की मुद्राओं का वर्णन इस प्रकार से है–

श्रीराम– धनुष, बाण।

श्री कृष्ण– वेणु, कदम्बफल, बांसुरी।

श्री महादेव– त्रिशुल, माला, डमरू।

श्री विष्णु– शंख, चक्र, गदा, पद्म।

श्री गणेश– दन्त, पाश, लड्डु।

मंत्र योग का दसवां अंग हैं– तर्पण

अपने इष्ट देव के तर्पण के पश्चात् अन्य देवी–देवता, ऋषि व पितृगणों का तर्पण करना चाहिए।

मंत्र योग का ग्यारहवां अंग है– हवन

हवन से तथा हवन के साथ मंत्रों के प्रयोगों से इष्ट देव प्रसन्न होते हैं, व्याधियां दूर होती हैं एवं रिद्धि–सिद्धि की प्राप्ति होती है।

मंत्र योग का बारहवां अंग हैं– बलि

बलि शब्द आते ही व्यक्ति के मस्तिष्क में किसी पशु या पक्षी की बलि का विचार आ जाता है। मन में हिंसा के बीच उत्पन्न हो जाते हैं। यहां बलि का अर्थ हिंसा नहीं है। हिंसा रहित बलि अर्थात् आत्मबलि द्वारा अपने अहंकार का नाश करना। अहंकार को बलि चढ़ा देने से है। यह एक श्रेष्ठ कृत्य है जिससे व्यक्ति मान, माया, लोभ, क्रोध आदि की बलि चढ़ाकर श्रेष्ठता को प्राप्त करता है।

मंत्र योग का तेरहवां अंग है– याग

याग का अर्थ पूजा से है। साधक याग दो प्रकार से कर सकता है–अ. अन्तर्याग, ब. बहिर्याग। बहिर्याग से अन्तर्याग श्रेष्ठ है। अन्तर्याग एक तरह से मानसिक पूजा है, मानसिक जप है।

मंत्र योग का चौदहवां अंग है– जप, जप तीन प्रकार से किया जाता है–

1. वाचिक जप– जिसमें मंत्र ध्वनि दूसरों को सुनाई देती है।

2. उपांशु जप– जिसमें ध्वनि केवल साधक को ही सुनाई देती है, दूसरों को नहीं।

3. मानस जप– वह मंत्र ध्वनि जो साधक को भी सुनाई न दे।

कहा गया है कि वाचिक से उपांशु जप सौ गुणा और उपांशु से मानस जप सौ गुणा श्रेष्ठ है।

जप कभी भी शीघ्रता से व विलम्ब से नहीं करना चाहिए। शीघ्रता से करने पर धन की हानि एवं विलम्बता से करने पर शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं। अतः जप हमेशा मध्यम वृत्ति से ही करना चाहिए।

मंत्र योग का पन्द्रहवां अंग है– ध्यान

मंत्र योग में मानस जप का अभ्यास जैसे–जैसे परिपक्व होता जाता है वैसे–वैसे हृदय की ग्रंथियां खुलती जाती है एवं साधक ध्यान की अवस्था को प्राप्त करता है। इष्ट के साक्षात् दर्शन होने लगते हैं।

मंत्र योग का सोलहवां अंग है– समाधि

साधक का इष्टदेव में मन लय होने पर मन, मंत्र और देवता का जब स्वतंत्र बोध नहीं रहता है, तीनों एक–दूसरे में लय हो जाते हैं तब आनन्द की अनुभूति के साथ समाधि का उदय होता है और साधक परम तत्त्व की प्राप्ति करता है।

भगवान कृष्ण ने गीता में सब यज्ञों में जप यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए कहा है–

जप करने के लिए गायत्री आदि किसी भी पवित्र मन्त्र का आश्रय लिया जा सकता है अथवा ओकांर (प्रणव) जो ईश्वर का निज नाम है, उसका भी जप कर सकते हैं।

तस्य वाचकः प्रणवः *(योगदर्शन–1.27)*

उस ईश्वर का जीव के साथ पिता–पुत्र जैसा सम्बन्ध है। प्रणव या ओकांर ईश्वर का वाच्य या अभिधेय अर्थ है।

तज्जपस्तदर्थभावनम्। *(योगदर्शन–1.28)*

उस ओम् का जप और उसके अर्थ (ईश्वर) की भावना करनी चाहिए अर्थात् ओार का जप और ओघङ्कार के वाच्यार्थ 'ईश्वर' की भावना करनी चाहिये इस प्रकार ओघङ्कार को जपते हुए तथा ओकांर के अर्थ 'ईश्वर' की भावना करते हुए योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है ऐसा विष्णु पुराण में भी कहा गया है।

जिसका ध्येय केवल परमात्मा या मोक्ष को प्राप्त करना है वह स्वाध्याय पूर्वक योग अर्थात् समाधि का अभ्यास करें, समाधि पूर्वक तब स्वाध्याय करे इस प्रकार स्वाध्याय और योग रूपी सम्पत्ति से परमात्मा उसके समक्ष प्रकाशित हो जाता है। यहाँ योग का अर्थ योगः समाधि है तथा स्वाध्याय का अर्थ भगवान की महिमा का चिन्तन करते भगवान के ऐश्वर्य में भी भगवान् को ही मूर्त्त रुप में अनुभव करना है, स्वाध्याय एक सगुण साकार उपासना है तथा योग निर्गुण निराकारोपासना है। मन्त्र जप करने से हम भगवान् व भगवान् की दिव्यता के साथ एक रूप हो जाते हैं इससे दिव्यता से जप करने वाला साधक ईश्वरीय शक्ति से ओतप्रोत हो जाता है।

मंत्रयोग की साधना के तीन पहलू है–

1. मन–मानसिक स्तर पर
2. सूक्ष्म शरीर–अन्तःकरण स्तर पर

3. ध्वनि कम्पन या तरंग–ऊर्जा क्षेत्र

मंत्रयोग साधना के प्रमुख अंग–

1. भक्ति	2. शुद्धि	3. आसन
4. पचांगसेवन	5. आचार	6. धारणा
7. दिव्य देश सेवन	8. प्राण क्रिया	9. मुद्रा
10. तर्पण	11. हवन	12. बलि
13. योग	14. जप	15 ध्यान
16. समाधि		

1.11 निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि भारत भूमि में योग की महत्ता प्राचीन काल से रही हैं। पातंजल योग सूत्र में विविध प्रकार के योगों में प्रकाश डाला गया हैं। यहां योग के विघ्नों के बारे में भी प्रकाश डाला गया है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. योग का अर्थ क्या है?
2. गीता में योग का क्या अर्थ है?
3. गीता में योग कितने प्रकार का है?
4. योग की कितनी वृत्तियां हैं?
5. योग की निष्पत्ति क्या है?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. निम्न में किन्हीं दो पर टिप्पणी लिखिएं – क्रिया योग, प्राणायाम, प्रत्याहार

3. निबंधात्मक प्रश्न–

1. ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वय पर प्रकाश डालिए।
2. योग की परिभाषा करते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

इकाई – 2

पतंजल योग सूत्र की विषय वस्तु (चार पाद), क्रियायोग एवं अष्टांग योग

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 भूमिका

2.2 पातंजल योग

2.2.1 योग की परिभाषा

2.2.2 चित्त

2.2.3 चित्त की वृत्तियां

2.2.4 निरोध

2.3 क्रियायोग

2.4 योग के आठ अंग

2.4.1 यम

2.4.2 नियम

2.4.3 आसन

2.4.4 प्राणायाम

2.4.5 प्रत्याहार

2.4.6 धारणा

2.4.7 ध्यान

2.4.8 समाधि

2.5 निष्कर्ष

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का पढ़ने का मुख्य उद्देश्य है– 1. महर्षि पतंजलि के बारे में जानकारी प्राप्त करना। 2. पातंजलि योग सूत्र में निहित योग के फलितार्थ को समझना।, 3. योग के स्वरूप की जानकारी प्राप्त करना।, 4. योग की उपादेयता को जानना।, 5. योग के साधनों की जानकारी प्राप्त करना।, 6. क्रियायोग एवं अष्टांग योग को समझना।

2.1 भूमिका

महर्षि पतंजलि द्वारा विरचित पातंजलि योग सूत्र योग का एक प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रंथ है। इसको चार भागों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भाग पाद के नाम से जाने जाते हैं। इस ग्रंथ में चार पाद है– समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद एवं केवल्यपाद। इन चार पादों में योग के अर्थ, योग का स्वरूप, योग

मार्ग में आने वाली बाधाएं एवं योग के महत्व पर प्रकाश डाला गया हैं। इस इकाई में पातंजलि योग सूत्र के अनुसार क्रियायोग एवं अष्टांग योग पर भी प्रकाश डाला गया हैं।

2.2. पातंजल योग

भारतीय योग विद्या की विभिन्न परम्पराओं में सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ महर्षि पतंजलि का योग सूत्र है। इससे पूर्व की योग परम्पराओं एवं आध्यात्मिक साधनाओं का विवेचन वेद उपनिषद, जैन, बौद्ध, महाभारत, गीता एवं पुराणों में उपलब्ध होता है परन्तु 'योग' का संक्षिप्त, सूत्रबद्ध , व्यवस्थित, तार्किक व दार्शनिक ढंग से विवेचन महर्षि पतंजलि के योग सूत्र में मिलता है। उन्होंने अपने योग सूत्र में अतीत की साधना पद्धतियों एवं वैचारिक सारणियों का सुन्दर समाहार एवं समन्वय किया। पतंजलि केवल थोड़े से शब्दों के माध्यम से पूरे योग मार्ग का विकास दर्शन करवा देते हैं। वैसे इससे पूर्व के ग्रन्थों में भी योग का विशद वर्णन मिलता है लेकिन समय समय पर युगानुरूप प्रस्तुत करने की आवश्यकता रहती है। महर्षि पतंजलि ने प्राचीन विशाल योग को युगानुरूप संक्षिप्त शब्दों में सूत्रबद्ध कर सागर को गागर में समेट दिया।

पतंजलि के योग सूत्र का दार्शनिक आधार सांख्य सिद्धान्त है। सांख्यकार के जीवन और जगत की व्याख्या का दृष्टिकोण आत्मनिष्ठ रहा है। उनके दृष्टिकोण में जीवन और जगत् का विस्तार पुरुष के सम्पर्क में प्रकृति के आने से होता है। तदन्तर उत्पन्न 23 तत्त्वों से सांख्यकार जीवन और जगत् की व्याख्या करते हैं। इस विस्तार का मूल कारण अविद्या या विवेक ख्याति का अभाव है। चित्त की अस्थिरता के कारण प्रज्ञा या विवेक–ख्याति संभव नहीं हो पाती है। विवेक ख्याति होने से प्रकृति और उसके सारे विकारों से पुरुष अलग हो जाता है। इस अवस्था में पुरुष दुःखमय जगत् से दूर हो जाता है।

सांख्य दर्शन में 25 तत्वों का निरूपण है। इन्हीं 25 तत्त्वों से समस्त सृष्टि की रचना की गई है। अतः परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए योग दर्शन में भी इन तत्त्वों का ज्ञान अपेक्षित माना गया है।

पुरुष– सांख्य मत में पुरुष चेतन सत्ता है। यह वह शक्ति है जो सर्वत्र व्याप्त है और वस्तुओं की नियामक है। पुरुष के अभाव में कोई विधान नहीं हो सकता। इस प्रकार पुरुष विधि और नियम का प्रतीक है।

प्रकृति– प्रकृति अव्यक्त है और पुरुष के संसर्ग से इसका विकास होता है। प्रकृति से उत्पन्न वस्तुएं सत्, रज और तम गुणों से पूर्ण होती हैं। किसी वस्तु में कोई एक गुण प्रधान होता है और किसी में कोई दूसरा गुण लेकिन तीनों गुण प्रत्येक प्राकृतिक रचना में विद्यमान होते हैं। इस प्रकार प्रकृति मूल कारण है और त्रिगुण सम्पन्न है।

महत्– यह प्रकृति से उत्पन्न है। यह प्रकृति का पहला विकार है। महत् बुद्धि का पर्याय है। बुद्धि निश्चय, निर्णय आदि मानसिक क्रियाओं का स्रोत है।

अहंकार– महत् से अहंकार की उत्पत्ति मानी गई है। महत् और अहंकार विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न–भिन्न होते हैं। अहंकार के कारण व्यक्ति अपने को दूसरे से भिन्न समझता है और अपने ''मैं'' का अधिक ध्यान रखता है।

मनस्– अहंकार की भांति इसका भी एक सार्वभौम रूप है। महत् और मनस् दोनों मूल तत्त्व होते हुए भी आपस में भिन्न हैं। मनस् का कार्य है– विश्व को वस्तुनिष्ठ रूप से प्रस्तुत करना। मनस् के अध्ययन से व्यक्ति अपने से परे वस्तुओं के विषय में जानता है।

इन्द्रियां– मनस् इन्द्रियों के सहयोग से अपने चारों ओर की वस्तुओं से परिचित होता है। इन्द्रियां दस हैं– पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां। जब ये दस विकसित होती हैं तो उसी के साथ तन्मात्राएं भी उत्पन्न होती हैं।

तन्मात्राएं– तन्मात्राएं उस अहंकार से उत्पन्न होती हैं जो तमस प्रधान है। तन्मात्र का तात्पर्य है ''वही''। चूंकि इनका विकास अहंकार से होता है इसीलिए इन्हें ''विकृति'' कहते हैं। तन्मात्राएं पांच हैं– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध।

पंचभूत– पांच तन्मात्राओं से पांच भूतों का विकास होता है। इसे हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं:–

भूत		**तन्मात्राएँ**
आकाश	:	शब्द
वायु	:	शब्द+स्पर्श
तेज	:	शब्द+स्पर्श+रूप
जल	:	शब्द+स्पर्श+रूप+रस
पृथ्वी	:	शब्द+स्पर्श+रूप+रस+गंध

यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक भूत का एक तन्मात्रा से विशेष सम्बन्ध होता है और अन्य से सामान्य।

महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र को चार अंगों में बांटा है–

1. समाधि पाद
2. साधन पाद
3. विभूति पाद
4. कैवल्य पाद।

समाधि पाद में 51 सूत्र है जिनमें योग के लक्षण और स्वरूप का वर्णन किया है। द्वितीय साधन पाद में 55 सूत्र है। इसमें दुःख के कारण तथा निवारण के उपाय बताए गये हैं। तृतीय विभूति पाद में 55 सूत्र है। इस भाग में धारणा, ध्यान, समाधि, संयम और उनसे होने वाली सिद्धियों का वर्णन है। अंतिम कैवल्य पाद में 34 सूत्र है। इस भाग में चित्त के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार पातंजल योग सूत्र में कुल 195 सूत्र है। प्रथम समाधि पाद में योग के लक्षण और स्वरूप का वर्णन है। द्वितीय साधन में दुःख के कारण और निवारण के उपाय पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय विभूति पाद में धारणा, ध्यान और समाधि, संयम और उससे परिणत होने वाली सिद्धियों का वर्णन है। अन्तिम पाद कैवल्य पाद है। इसमें चित्त के स्वरूप का प्रतिपादन है।

2.2.1 योग की परिभाषा

योग की परिभाषा करते हुए पतंजलि ने लिखा है, ''योगश्चित्त वृत्ति निरोधः।''1 अर्थात् चित्त् की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। इस स्थिति के उत्पन्न होने पर द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। आत्मा और परमात्मा का योग हो जाता है। अविद्या के कारण चित्त दृश्यों की ओर दौड़ता रहता है। अपनी वृत्तियों का आरोपण पुरुष पर करता है। पुरुष अपने स्वरूप को भूलकर चित्त के साथ हो जाता है। उन्हीं के तादात्म्य स्थापित कर उन्हें ही अपना स्वरूप मान लेता है। सुख और दुःख का अनुभव करता रहता है। सुख–दुःख से परे जाने के लिए चित्त वृत्तियों के निरोध द्वारा अपने स्वरूप में स्थित होना आवश्यक है। योग की परिभाषा के अनुसार चित्त, वृत्ति और निरोध इन शब्दों के अर्थ जानना आवश्यक है।

2.2.2 चित्त

चित्त से तात्पर्य अच्छेद्य चेतन व्यापार है। यह प्रज्ञानों का सतत प्रवाह है। इसके चेतन व्यापार हैं– प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति, राग, द्वेष, संकल्प इत्यादि। ये व्यापार निरन्तर चलते रहते हैं। चित्त

अन्तःकरण है। चित्त के विभिन्न रूपों में किसी में इच्छा, किसी में क्रिया और किसी में ज्ञान की प्रधानता पायी जाती है। इस प्रकार चित्त ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समुच्चय है।2 अर्थात् चित्त में बुद्धि, अहंकार और मन समाविष्ट रहते हैं। मन इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करता है। बुद्धि उचित–अनुचित का निर्णय करती है, अहंकार का ''मैं'' पन, मैं कर्त्ता हूं, ''मैं भोक्ता हूं'' ऐसा भाव उत्पन्न करता है।

चित्त की पांच अवस्थाओं का वर्णन योग दर्शन में मिलता है। वे अवस्थाएं हैं– क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इन पांच अवस्थाओं को चित्त की भूमि भी कहते हैं। (1) चित्त की क्षिप्त अवस्था उस समय होती है जब वह रजोगुण से प्रभावित होता है। उस समय उसमें चंचलता अधिक होती है और वह अस्थिर रहता है। (2) जब चित्त तमोगुण से प्रभावित होता है तब वह मूढ़ अवस्था में आ जाता है। मूढ़ चित्त के लोग पैशाचिक प्रवृत्ति के होते हैं। (3) जब चित्त पर सत्व का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है और रजोगुण का प्रभाव भी कुछ ना कुछ बना रहता है तब उसकी अवस्था विक्षिप्त होती है। इस अवस्था में चित्त स्थिर रहता है परन्तु कभी–कभी रजोगुण के कारण अस्थिर हो जाता है। (4) जब चित्त पूर्णरूप से सत्व के प्रभाव में रहता है तब उसकी अवस्था एकाग्र होती है। (5) जब चित्त की सारी वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं और उसमें वृत्तियों के संस्कार मात्र रह जाते हैं तब चित्त की इस अवस्था को निरुद्ध कहते हैं। योग का लक्ष्य पहले चार प्रकार के चित्त के स्थान पर पांचवें प्रकार के चित्त को प्राप्त करना है।

2.2.3 चित्त की वृत्तियां

विभिन्न विषयों को लेकर चित्त में उठनेवाली वृत्तियां (प्रवाह या बहाव) चित्त की वृत्ति कहलाती है। ये क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार की हैं। जिन वृत्तियों के मूल में अविद्या आदि पांचक्लेश रहते हैं, वे क्लेश मूलिका हैं। अविद्या, अस्मिता, राग–द्वेष और अभिनिवेश– इनमें कोई भी एक क्लेश जिस वृत्ति का हेतु है वही क्लिष्ट वृत्ति कहीं जा सकती है। विवेक के द्वारा अविद्या नष्ट होने पर विवेक ख्याति रूप जो वृत्ति उठती है वही मुख्य अक्लिष्ट वृत्ति है। ये क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियां पांच प्रकार की हैं– प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

प्रत्यक्ष, प्रमाण और आगम इन तीनों प्रकारों से साधित यथार्थ ज्ञान का नाम प्रमाण है। चित्त की विपर्यय वृत्ति के कारण संशय और मिथ्या ज्ञान होता है। विकल्प वृत्ति में वस्तु का ज्ञान वस्तु के अभाव में होता है। चित्त की निद्रा वृत्ति अभाव ज्ञान पर आधारित है। चित्त की पांचवी वृत्ति स्मृति है। अनुभूतियों को उनके पहले स्वरूप में याद करना स्मृति है। इस प्रकार चित्त की इन पांच वृत्तियों के कारण जीव भटकता रहता है। इन वृत्तियों का निरोध करना योग का उद्देश्य है।

2.2.4 निरोध

चित्त के निरोध से उसमें वृत्तियों का उठना बंद हो जाता है। इससे नये संस्कार नहीं बनते। जब तक पिछले संस्कार शेष हैं तब तक अविद्या की धारा बहती है। उसके समाप्त हो जाने पर चित्त का निरोध हो जाता है। पुरुष/आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यद्यपि चित्त अत्यन्त चंचल है किन्तु अभ्यास और वैराग्य से उसे नियंत्रित किया जा सकता है। चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य आवश्यक है। 'तत्र स्थितो यत्नोऽभ्यासः।1 अभ्यास वह है जिससे चित्त को स्थिर रखा जा सके। वैराग्य उसे कहते हैं जिसके कारण लौकिक और पारलौकिक वस्तुओं की इच्छा न हो। चित्त राग भावना से मुक्त हो जाए। प्रारम्भ में वैराग्य कच्चा होता है; अपर वैराग्य कहलाता है। इसका परिपक्व रूप परवैराग्य कहलाता है। यह पूर्ण ज्ञान के बाद आता है। साधारण जीवन के दुःखों की चेतना से अपर वैराग्य का उदय होता है। परम सत्य के ज्ञान और चिन्तन में लगाये रहने से धीरे–धीरे पर वैराग्य का उदय होता है। अन्य दर्शन की तरह यहां भी मोक्ष का उपाय वैराग्य और योग है।2 इसकी तुलना जैन दर्शन में मोक्ष के साधन भूत तत्त्व अकषाय व अयोग से की जा सकती है। अकषाय का तात्पर्य कषाय–क्रोध आदि का क्षय और अयोग का तात्पर्य मन, वाणी और शरीर की चंचलता का निरोध।

2.3 क्रिया योग

भीतरी क्लेश के कारण चित्त समाहित नहीं होता है। चित्त समाधि के लिए तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान अर्थात् क्रिया योग का अभ्यास करना चाहिए।

तप–जिस प्रकार एक कुशल सारथी चंचल घोड़ों को अपने वश में रखता है ठीक उसी प्रकार शरीर, प्राण, मन, इंद्रिय आदि को अभ्यास के द्वारा वश में करना तप कहलाता है। जिससे साधक सुख–दुख भूख प्यास, हर्ष–शोक सर्दी–गर्मी आदि सभी प्रकार के द्वंदों में भी वह योग मार्ग में प्रवृत्त रह सके।

स्वाध्याय–वे सभी प्रकार के साहित्य जो साधक के विवेक ज्ञान को उत्पन्न करते हैं उनका अध्ययन एवं ओमकार सहित गायत्री आदि मंत्रों का जाप करना ही स्वाध्याय है।

ईश्वर–प्राणिधान–ईश्वर–प्राणिधान ईश्वर की भक्ति विशेष से संबंधित है। साधक के द्वारा किए जाने वाले सभी प्रकार के कर्मों को साथ ही उसके फलों को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देना ही ईश्वर–प्राणिधान है।

मनुष्य के दुःख का कारण क्लेश है। योग दर्शन में पांच प्रकार के क्लेश बताए गए हैं–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। वास्तव में अविद्या से ही अन्य चार प्रकार के क्लेश उत्पन्न होते हैं। अविद्या के कारण व्यक्ति दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा मान लेता है। अस्मिता के कारण व्यक्ति पुरुष और बुद्धि को एक मान लेता है। राग के कारण व्यक्ति के मन में इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। अभिनिवेश से मृत्यु का भय उत्पन्न होता है।

इन क्लेशों से मुक्ति पाने के लिए अष्टांग योग का अभ्यास आवश्यक है। ये आठ सोपान हैं जो साधक के सामाजिक जीवन को परिष्कृत और कल्याणकारी बनाते हैं तथा वैयक्तिक जीवन के विभिन्न अंगों, शरीर, इन्द्रिय, मन व चित्त को प्रशिक्षित करते हैं। अन्ततः चित्त स्थैर्य की चरम अवस्था समाधि तक ले जाते हैं।

2.4 योग के आठ अंग

पतंजलि द्वारा उद्घाटित चित्तवृत्ति–निरोध रूप योग भी समाधि अर्थ ही है–योगः समाधिः स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। सारांशतः योग के तीन अर्थ निकलते हैं–

1. संयोग या मेल
2. ध्यान या समाधि
3. उपाय, साधन या मार्ग।

इन तीनों की साधना एवं फलश्रुति के लिए महर्षि पजंजलि ने अष्टांग योग की परिकल्पना प्रस्तुत की। योग के आठ अंग है–

"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावंगानि"। (पा. सू. 2/21)

1. यम 2. नियम 3. आसन 4. प्राणायाम 5. प्रत्याहार 6. धारणा 7. ध्यान 8. समाधि।

प्रथम दो अंग यम और नियम राग–द्वेष से पैदा होने वाले उद्वेगों को संयमित करते है और योगी को कल्याणकारी सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठित करते हैं। आसन से योगी का शरीर स्वस्थ और सुदृढ़ होता है जिससे वह प्रकृति के साथ हम कदम होकर चल सकता है। इससे शरीर के प्रति ममत्व क्रमशः घटता जाता है और योगी इसे आत्मा का आधार मात्र मानने लगता है। अगली दो सीढ़ियों–प्राणायाम और प्रत्याहार के द्वारा योगी श्वास–प्रश्वास का संयम करता है और इन्द्रियों को उनके विषयों से दूर कर इन्द्रिय संयम करता है। अंतिम तीन अंग योगी को आत्मा की गहराई में ले जाकर कैवल्य प्रदान करने वाले हैं।

2.4.1 यम

यम प्रथम सोपान है। इसका अर्थ है–संयम या नियंत्रण। योग सूत्र के अनुसार–

अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः (पा.सू. 2/30)

अर्थात् अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का आचरण यम है। इस प्रकार के नैतिक आचरण से व्यक्ति और समाज का कल्याण होता है, सामाजिक जीवन में सुख–शांति रहती है। इसके विपरीत हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार और परिग्रह की वृत्ति, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह आदि दुर्भावनाओं से उद्भूत होती है। अहिंसादि के आचरण से ये दुर्भावनाएँ क्रमशः क्षीण होती है और साधक का मन शुद्ध से शुद्धतर होता जाता है और उसकी इन्द्रियां वश में हो जाती है। घृणा की भावना का बहिष्कार भी अहिंसा का ही अंग है। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को ही अपने दर्शन का आधार बनाया। उनके सर्वोदय तथा सत्याग्रह के मार्ग में सत्य और अहिंसा महत्वपूर्ण हो। अहिंसा परोक्ष रूप से सत्य का निदेशक है। सत्य अत्यन्त महत्वपूर्ण यम है क्योंकि सत्य पर ही अन्य यम तथा नियमों का पालन निर्भर है। सत्य का सदाचार सर्वोपरि स्थान है। महात्मा गांधी ने सत्य पर विशेष बल दिया और सत्य को ही अपनी कार्य–पद्धति का आधार बनाया। व्यक्ति या समाज सत्याग्रह के माध्यम से सर्वोदय के पथ पर अग्रसर हो सकता है। अस्तेय का तात्पर्य है दूसरे के धन, वस्तु या विचारों का अपने हित में प्रयोग की प्रवृत्ति से विरत होना। अस्तेय से व्यक्तिगत चित्तशुद्धि के अतिरिक्त व्यापक सामाजिक तनाव भी कम होता है। ब्रह्मचर्य स्वधर्म से विचलित न होने में सहायक है। यह मात्र मैथुन कर्म से विरत होना ही नहीं है अपितु ब्रह्मचर्य साधक के मानव शरीर की शुद्धि के साथ–साथ उसे मानसिक तथा शारीरिक दृष्टि से सबल रखता है ताकि साधनाके पथ पर वह कुशलता से अग्रसर हो सकें। इस प्रकार अपने स्वार्थ के लिए ममतापूर्वक धन, सम्पत्ति और योग–सामग्री का संचय करना 'परिग्रह' है और इसके अभाव का नाम 'अपरिग्रह' है ये पांच यम जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा में अणुव्रत और सीमा से रहित सार्वभौम होने पर महाव्रत हो जाते हो। अर्थात् जब इन यमों का पालन सार्वभौम अर्थात सबके साथ, सब जगह और सब समय समान भाव से किया जाता है तब ये महाव्रत हो जाते हैं।

पातंजल सूत्र के दूसरे अध्याय में इन महाव्रतों को श्लोकों में प्रस्तुत किया गया है–

1. **अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्नियों वैरत्यागः (पा.सू. 2/35)** अर्थात् अहिंसा प्रतिष्ठित होने पर सभी प्राणी उस व्यक्ति के सभी वैर त्याग देते हो। अर्थात् जिस व्यक्ति में अहिंसा का भाव प्रतिष्ठित हो जाता है उसका किसी के प्रति वैरभाव नहीं रह जाता है। साथ ही दूसरे प्राणी भी उसके साथ किसी भी प्रकार का वैरभाव न रखते हुए मैत्री का भाव रखते हो। अर्थात् दोनों ओर से मैत्रीभाव स्थापित हो जाता है। कहीं भी एक–दूसरे के प्रति भय का वातावरण नहीं रह जाता है। अहिंसा अभय है। अतः अभय से मैत्री का विकास होता है।
2. **सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् (पा.सू. 2/36)** अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर वचन सिद्धि हो जाती है।
3. **आस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् (पा.सू. 2/33)** अर्थात् अस्तेय अर्थात् अचौर्य भाव प्रतिष्ठित हो जाने पर सभी रत्न उसके समीप होते हो। कहने का तात्पर्य है कि जिस व्यक्ति में अस्तेय का भाव प्रतिष्ठित हो जाता है, उसके लिए रत्न भी दुर्लभ नहीं होते हो। कहा जाता है तब पृथ्वी भी अपने रत्नों के द्वारा उस व्यक्ति के खोल देती है।
4. **ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः (पा.सू. 2/38)** अर्थात् ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर वीर्य लाभ की प्राप्ति होती है। अर्थात् शरीर में ऊर्जा की वृद्धि होकर तेज बढ़ता है।
5. **अपरिग्रहस्थर्येजन्मकथन्तासम्बोधः (पा.सू. 2/39)** अर्थात् अपरिग्रह की प्रतिष्ठा हो जाने पर व्यक्ति को अपने जन्मों का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् व्यक्ति अपने पूर्व जन्मों के बारे में जान सकता है।

2.4.2 नियम

जहां यम व्यक्ति के सामाजिक आचरण की शुद्धता को लक्ष्य करता है वहां नियम उसके व्यक्तिगत आचरण की शुद्धता को लक्ष्य करता है। महर्षि पातंजलि ने पांच नियम बताए हो–शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान कहा गया है।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेष्वरप्रणिधानानि नियमाः। (पा.सू. 2/32)

इनमें से शौच प्रथम नियम है। शौच का तात्पर्य है जीवन के शारीरिक या मानसिक क्रिया कलाप के प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धता का अभ्यास। शरीर, वस्त्र और आवास आदि के मल को दूर करना बाह्य शुद्धि है। वर्णाश्रम और योग्यतानुसार प्रमाणपूर्वक अन्न, धन आदि पवित्र वस्तुओं को प्राप्त कर शुद्ध भोजनादि करना तथा सबके साथ यथायोग्य पवित्र व्यवहार करना भी बाह्य शुद्धि ही है। जप, तप और शुद्ध विचारों द्वारा तथा मैत्री आदि की भावना से अन्तः करण के राग–द्वेषादि मलों का नाम करना आभ्यन्तर शौच है।

शौच के बाद संतोष दूसरा नियम है। कर्त्तव्य कर्म का पालन करते हुए उसका जो परिणाम हो तथा प्रारब्ध के अनुसार स्वयं जो कुछ प्राप्त हो तथा जिस परिस्थिति में रहना पड़े, उसी से सन्तुष्ट रहना और अन्य किसी प्रकार की कामना न करना संतोष है।

तप द्वारा शरीर, मन और वचन का विशेष प्रकार से संयम किया जाता है। निराहार रहना, निश्चय रहना, प्राणवायु का नियमन, गरम शिला पर लेटना इत्यादि तप के ही प्रकार हो। तप में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कष्ट झेलना पड़ता है। जैसे स्वर्ण का शोधन करने के लिए उसे आग में तपाया जाता है वैसे ही तप से मानसिक और शारीरिक अशुद्धियाँ दूर हो जाती है और शरीर तथा इन्द्रियों की क्षमता चामत्कारिक रूप से बढ़ जाती है।

स्वाध्याय शब्द 'स्व' और 'अध्याय' की संधि से बना है। इसका अर्थ 'स्व' का अथवा अपने आपका, अपनी अंतरात्मा का, अपने मन और इन्द्रियों का अध्ययन करना, उनकी चेष्टाओं की अनुप्रेक्षा करना, बार–बार चिन्तन करना। इससे अपने आप के साथ–साथ एक साधक का बाहरी वस्तुओं एवं घटनाओं से जो सम्बन्ध होता है उसका उसे अनुभव हो जाता है, उसमें सहज ज्ञान का प्रस्फोटन होने लगता है। इसके अलावा आदर्श साहित्य, नैतिकता प्रधान साहित्य आदि का अध्ययन भी स्वाध्याय है। इनको पढ़ने से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है वह प्रत्यक्षतः या अनुमानतः ग्रहण नहीं किया जा सकता। यह तो अनुभव के स्तर का ज्ञान है। पातंजल सूत्र में आया है स्वाध्याय से इष्ट देवता के साथ तादात्म्य स्थापित होता है–**स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः। (पा.सू.2/44)**

ईश्वर प्राणिधान इस शब्द का अर्थ है ईश्वर की विशेष भक्ति, ईश्वर के प्रति शरणागति। इस अवस्था में योगी अपने सारे कर्मों को सारे भावों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है। ईश्वर से पृथक उसकी कोई वैयक्तिकता नहीं रहती। ईश्वर से अलग उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। इससे सहज ही उसे समाधि की सिद्धि हो जाती है। कहा गया है–**समाधि सिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (पा.सू.2/45)**

2.4.3 आसन

पतंजलि के अष्टांग योग में यम तथा नियम के बाद तीसरा स्थान आसन का है। आसन का विस्तारपूर्वक वर्णन हठयोग के ग्रंथों में मिलता है। उपनिषदों में आसन का उल्लेख अवश्य है परन्तु उनका विस्तार प्राप्त नहीं होता है। अमृतनादोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद में आसन का उल्लेख मात्र है। मण्डल–ब्राह्मणोपनिषद् में चिरकाल तक सुखपूर्वक बैठने के विधि को आसन कहा गया है। तेजोबिन्दूपनिषद् में भी इसी प्रकार की परिभाषा दी गयी है। ये औपनिषदिक परिभाषाएँ पातंजल सम्मत **'स्थिरसुखं आसनम्'** परिभाषा के समान हो। शरीर को स्थिर और सुख देने वाली अवस्था में रखने का नाम आसन है। यह शरीर को एक विशेष स्थिति में रखता है जिसमें साधक का शरीर अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त हेतु कुछ समय तक स्थिर रहे और उसे किसी शारीरिक तनाव आदि का भी अनुभव न हो। योगासनों का नामकरण विभिन्न पशुओं पक्षियों पर रखा गया है क्योंकि योगासन करते समय आसन–विशेष की अंतिम अवस्था पशु विशेष की आकृति से साम्यता रखती है। यथा–शलभासन, कूर्मासन, भुजंगासन, मयूरासन, उष्ट्रासन, सिंहासन आदि।

हठयोग के योगासन में शरीर को विभिन्न प्रकार की स्थितियों में इस प्रकार से रखते हैं जिससे शरीर के प्राणायतन अंगों तथा अन्तःस्रावी ग्रंथियों की क्रिया पूर्व की अपेक्षा भलीभांति होकर शरीर तथा मन को स्वस्थ बना सके। वास्तव में योगासन एक ऐसा सरल तथा सुगम मार्ग है जिसके द्वारा शारीरिक एवं मानसिक विकास, वृद्धावस्था तथा व्याधि–निवारण में वांछनीय प्रभाव को प्राप्त किया जा सकता है। इन आसनों का अभ्यास दैनिक जीवन में बिना किसी आसक्ति के प्रत्येक प्रकार की वय, लिंग, स्थान, जलवायु आदि में किया जा सकता है। आसन, जिनका अभ्यास योग में किया जाता है, केवल भौतिक शरीर–संवर्धन मात्र नहीं हो अपितु विभिन्न प्रकार के मार्ग है जिनसे शारीरिक तथा मानसिक विश्रान्ति (शांति) भी प्राप्त होती है। इसी कारण से आधुनिक समाज में आसनों का अभ्यास दैनिक जीवन के तनाव को कम करने के लिए किया जाता है। यद्यपि योगी को शरीर के प्रति मोह नहीं होता है फिर भी अंतरात्मा का निवास होने के कारण शरीर का वह सम्मान करता है। उसके रख–रखाव और उपयोगिता पर पूरा ध्यान रखता है। आसन शरीर को योग साधना के लिए अनुकूल बनाने के साधन हो। आसन–सिद्ध–साधक सर्दी–गर्मी, मृदु–कठोर, स्निग्ध–रूक्ष (चिकना एवं खुरदरा) आदि स्पर्श से अभिभूत नहीं होता।

आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययनों से भी निष्कर्ष निकला है कि आसनों से ध्यान, समाधि, शारीरिक स्थिति की स्थिरता तथा शरीर–विकास के साथ–साथ विभिन्न प्रकार के शरीरिक तथा मानसिक परिवर्तन भी शरीर में होते हैं। इन परिवर्तनों में मुख्य रूप से शरीर के वजन में कमी, श्वास गति में कमी, वक्षःस्थल के विस्तार में वृद्धि, प्राण ऊर्जा में वृद्धि, रक्त में शर्करा में कमी, रक्त में वसा में कमी, रक्त में प्रोटीन में वृद्धि, अधिवृक्क ग्रंथि के कार्यों में नियमन इत्यादि हैं। कुछ मानसिक क्रियाओं में प्रगति जैसे–बुद्धि लब्धि, भावनात्मक नियंत्रण तथा चित्त की चंचलता आदि में कमी देखने को मिली। इसके साथ–साथ अनेक अन्य प्रकार के परिवर्तन भी देखने को मिले।

आसन से साधक का शरीर सुदृढ़ होता है। शरीर के प्रति ममत्व क्रमशः घटता है। सुख–दुःख सहने की क्षमता बढ़ती है। आसन का उद्देश्य शरीर को आध्यात्मिक विकास के लिए उपादेय बनाना।

2.4.4 प्राणायाम

प्राणायाम योग का चतुर्थ अंग है। यहां प्राण का अर्थ श्वास लेना और छोड़ना है। इसका आयाम अर्थात् नियंत्रण ही प्राणायाम है। पतंजलि ने इसे श्वास प्रश्वास के बीच गति विच्छेद के रूप में परिभाषित किया है–

तस्मिन्सति श्वास प्रश्वासयोर्गतिच्छिेदः प्राणायामः। (पा.सू. 2/49)

अर्थात् श्वास लेना, प्राणवायु से फेफड़ों को भरना, तदनन्तर उसे रोकना और उसके बाद छोड़ना, फिर छोड़ने के बाद भी श्वसन क्रिया को कुछ समय के लिए रोकना और फिर श्वास भरना। स्थूल रूप में प्राणायाम जीवन शक्ति अर्थात प्राण से संबंधित है। प्राणायाम के तीन अंग है–पूरक (श्वास को अंदर खींचना), रेचक (श्वास को बाहर छोड़ना) कुंभक (श्वास को अंदर एवं बाहर रोकना)। प्राणायाम के भी विभिन्न प्रकार है।

प्राणायाम कठिन साधना है और इसे सुयोग्य गुरु से सीखना चाहिए तथा गुरु के सान्निध्य में ही प्रारंभिक अभ्यास करना चाहिए। चूंकि इस क्रिया में प्राण शक्ति का संचालन किया जाना है। इसलिए इसमें असावधानी रखने से घातक दुष्परिणाम हो सकते है। प्राणायाम के संदर्भ में नाड़ी विज्ञान का विशेष महत्त्व है। प्राणायाम को नाड़ी शुद्धि का उपाय स्वीकार किया गया है। माना गया है कि नाड़ियों से वायु का संचार होता है। यद्यपि प्राणायाम श्वसनिक व्यायाम है फिर भी इसका प्रयोग विशिष्ट ढंग से क्रमबद्ध शरीर क्रियात्मक विकास तथा मनोदैहिक विश्रान्ति (शिथिलता) के लिए करते है। प्राणायाम पर किये गये आधुनिक अध्ययनों में अन्तःस्रावी ग्रंथियों तथा चयापचयात्क क्रियाओं में विकास, हृदय तथा फुफ्फुसों की क्रिया में सुधार के लक्षण देखे गये है। पतंजलि भी कहते हैं कि मोह के कारण विवेक ज्ञान के ऊपर जो एक आवरण पड़ा रहता है, वह प्राणायाम के अभ्यास से क्षीण (कमजोर) होता है। कहा गया है कि प्राणायाम से

बढ़कर कोई तप नहीं है। इससे शारीरिक और मानसिक मलों (अशुद्धियों) की शुद्धि होती है और ज्ञान में वृद्धि होती है।

2.4.5 प्रत्याहार

प्रत्याहार स्वनियंत्रण की प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से पृथक रखता है। अन्य शब्दों में इसका सम्बन्ध वैराग्य का जीवन व्यतीत करने से है जो योग की अग्रिम उच्च मानसिक अवस्थाओं की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। वस्तुतः प्रत्याहार पतंजलि के अष्टांग योग में अंतरंग एवं बहिरंग अवस्थाओं में सेतु रूप है। प्रत्याहार मनोनिरोग एवं इन्द्रिय व्यापार से मन को अलग करने की प्रक्रिया है। वस्तुतः प्रत्याहार द्वारा योगी अपने मन को स्वयं में केन्द्रित कर इसे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त तरंगों से पृथक कर लेता है। जब कभी हम मन के नियमन (रोकने) का प्रयास करते हो तब मानसिक स्तर पर अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते है। प्रत्याहार का उद्देश्य मनोनिरोधपूर्वक इन्द्रिय–निग्रह द्वारा इन परिवर्तनों को खत्म करना है। प्रत्याहार के अभ्यास में इन्द्रियों को इनके विषयों से विमुख (हटाना) किया जाता है। विषय–विमुख होने पर इन्द्रियां चित्त की अनुगामी हो जाती है। जब रानी मधुमक्खी मुड़ती है तो सभी श्रमिक मधुमक्खियां मुड़ जाती हैं और फिर जहां रानी मधुमक्खी बैठती हो, वहीं सभी बैठ जाती है। इसी प्रकार इन्द्रियां चित्त का अनुसरण करती है। जैसे–जैसे चित्त वृत्तियों के निरोध की ओर जाता है वैसे–वैसे इन्द्रियां उसके साथ चलती है। वे विद्रोह या विक्षोभ (दुःख) नहीं करती है।

प्रत्याहार में इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करना पड़ता है। प्राणायाम और प्रत्याहार से साधक का मन वश में आता है।

2.4.6 धारणा

धारणा पतंजलि के अष्टांगयोग के छठे अंग के रूप में वर्णित है। पतंजलि ने धारणा को अंतरंग योग मानते हुए संयम का अंग बताया है। औपनिषदिक परम्परा में धारणा के अनेक लक्षणों के उल्लेख के कारण उसकी एक सीमित परिभाषा दे पाना कठिन है। व्यावहारिक दृष्टि से पातंजल योग सूत्र के आधार पर 'धारणा' के स्वरूप को समझना अधिक उपयोगी एवं सामयिक रहेगा। पतंजलि के अनुसार बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी किसी एक देश में चित्त को ठहराना धारणा है–**देश बन्ध चित्तस्य धारणा। (पा.सू. 3/01)** यह समाधि की ओर पहला कदम है जिसमें साधक ध्येय वस्तु को मन के समक्ष स्थिर रखता है। इसके लिए वह किसी ध्येय वस्तु जैसे शरीर के बाहर किसी इष्टदेव की प्रतिमा या अपने शरीरगत किसी प्रदेश जैसे नाक के अग्र भाग पर अपने मन को स्थिर करना है। वस्तुतः यह एक प्रकार का मानसिक व्यायाम है जो साधक को आगे ध्यान तथा समाधि के अभ्यास में समर्थ बनाता है। धारणा में भी वही साधक पूर्ण सफल होता है जो बहिरंग योगाभ्यास के साथ–साथ प्रत्याहार का सफल अभ्यास करता है।

धारणा का अर्थ है–धारण करना। इसका अर्थ कान्सेन्ट्रेशन ;ब्वदबमदजतंजपवदद्ध से भी लिया जाता है। यद्यपि अंग्रेजी का यह शब्द योग विज्ञान के धारणा शब्द का पूर्ण अर्थ में प्रतिनिधित्व नहीं करता है। फिर भी उसके पास स्थित होने का अधिकार वह जरूर रखता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से मन को पूर्ण रूप से स्थिर करना असम्भव है। उच्चतम ध्यान की अवस्था में भी मन चलता रहता है। इसलिए कन्सेन्ट्रेशन का तात्पर्य है मन की गति का एक सीमा में नियमन मात्र करना। परन्तु योगशास्त्र के अनुसार उपरोक्त प्रकार के मनोगति के नियमन के अभ्यास द्वारा पूर्ण मानसिक एकाग्रता की स्थिति तक पहुंचाया जा सकता है और उस उच्चतम स्थिति में पहुंचने पर मन पूर्ण रूप से स्थिर हो जाता है।

2.4.7 ध्यान

धारणा में ज्ञानवृत्ति की निरंतरता नहीं होती है। वह त्रुटि या खण्डित होती रहती है। यह ज्ञानवृत्ति जब एक ज्ञान, एक रूप हो जाती है तो वह ध्यान की अवस्था कहलाती है। जैसे जल जिस पात्र में रखा जाता है, वह उसी का आकार ले लेता है। उसी प्रकार ध्यान की अवस्था में मन जिस वस्तु पर टिका हुआ है, वह उसी वस्तु के आकार वाला बन जाता है। इसलिए ब्रह्म या परमात्मा का ध्यान करने का विधान किया गया है जिसका वाचक ओंकार या प्रणव है। **तत्र प्रत्येकतानताध्यानम् (पा. सू. 3/2)** कहकर पतंजलि

सूत्र में ध्यान को परिभाषित किया गया है। तात्पर्य है कि जिस वृत्ति से ध्येय में मन को लगाता है, वह वृत्ति लगातार बनी रहे, दूसरी ओर कोई वृत्ति बीच में न आए, उसे ध्यान कहते है। प्रायः सभी धर्मों में ध्यान का महत्वपूर्ण स्थान है और इसे आध्यात्मिक साधना का अनिवार्य अंग बनाया गया है। ध्यान का मुख्य उद्देश्य तो आध्यात्मिक ही है परन्तु इस क्रम में ध्यान से भौतिक उपलब्धियां भी होती है। जैसे बिजली के बल्ब के फिलामेंट में जब निर्बाध रूप से (बिना बाधा के) विद्युत प्रवाह होता है तब वह चमकने लगता है। इसी तरह ध्यान से साधक की बुद्धि अधिक प्रखर हो जाती है। उसका मुख–मण्डल दीप्तिमान और शरीर स्वस्थ हो जाता है। उसकी वाणी मधुर और गंभीर हो जाती है। इनके अतिरिक्त उसे अतिमानवीय शक्तियों की भी उपलब्धि हो सकती है परन्तु इन उपलब्धियों के प्रति आसक्त होने से वह योग–भ्रष्ट हो सकता है। इसीलिए यह ध्यातव्य है कि ध्यान भौतिक सुख के लिए नहीं अपितु आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए करना चाहिए, भौतिक सुख तो अपने आप मिल जाते है।

2.4.8 समाधि

समाधि पातंजल अष्टांग योग का आठवां अंग है। प्रायः योग की सभी विचारधाराओं में समाधि को अंतिम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। यह मन की समस्त वृत्तियों के निरोध या विनाश की अवस्था है। जब ध्याता ध्येयाकार हो जाता है और उसका स्वरूप शून्य हो जाता है तब वही ध्यान समाधि हो जाता है। यह वह अवस्था है जिसमें ध्यान भी छूट जाता है केवल आत्मा के अस्तित्व मात्र का बोध रहता है। वह ध्येय के आकार में परिणत हो जाता है। ध्याता, ध्यान और ध्येय इन तीनों की एकता जहां होती है, उसे समाधि कहते है। कहा गया है–

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" (पा. सू. 3/3)

इसी क्रम में वाराहोपनिषद् में मन का आत्मा के साथ एकाकार होना समाधि माना गया है। योग तत्वोपनिषद में जीवात्मा तथा परमात्मा के संयोग को समाधि कहा गया है।

निष्कर्षतः ध्यानाभ्यास करते–करते स्वरूप रचना का प्रादुर्भाव हो जाने पर समाधि सिद्ध हो जाती है। अपने ही उच्चतर चेतना का प्रादुर्भाव होने लगता है और ध्येय के पार स्थित आत्यन्तिक सत्य की अनुभूति होने लगती है। यहां पर ध्याता तथा ध्येय एकाकार हो जाते है। इस प्रकार समाधि ध्यानाभ्यास की ही उच्चतर अवस्था है। धारणाभ्यास में बाह्य आकर्षण कम हो जाता है। ध्यान की अवस्था में स्वरूपाभास की आवृत्ति कम होते–होते समाधि अवस्था में पहुंचने तक चेतना पूर्णरूप से स्व–चिन्तन से रहित हो जाती है और चेतना के क्षेत्र में ध्येय मात्र शेष रह जाता है। ये परिवर्तन पूर्णरूप से मानसिक प्रक्रियाएँ है और इनका संबंध चेतना से है। शारीरिक प्रक्रियाएँ चलती रह सकती है परन्तु उन पर बाह्य तथा आभ्यन्तर जगत् की हलचलों का प्रभाव नहीं पड़ता है। ज्ञात ही है कि बाह्य जगत् की हलचलों के प्रभाव से रहित शरीर वाली हर स्थिति समाधि नहीं हो सकती है। वस्तुतः समाधि अवस्था का विशेष लक्षण है स्वरूप शून्यता तथा आत्यन्तिक सत्य की अनुभूति। बिना उपरोक्त प्रकार के मानसिक विकास के मात्र शारीरिक स्थिरीकरण वाली स्थिति वास्तविक समाधि नहीं है। इसे जड़– समाधि की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार की जड़–समाधि से पुरुष किसी प्रकार के मानसिक संस्कार या मेधावर्धन के बिना ही बाहर आता है जब कि वास्तविक समाधि से निकलने वाले व्यक्ति को भावातीत ज्ञान, बुद्धि, शक्ति तथा आंतरिक शक्ति प्राप्त होती है। समाधि की विभिन्न अवस्थाओं में क्रमशः चेतना का विकास होता है और चेतना अपने बंधनों से मुक्त होती जाती है, कैवल्य को प्राप्त होती है। स्वरूप शून्यता को समझाते हुए पतंजलि कहते है कि जब ध्यान में केवल ध्येयमात्र की ही प्रतीत होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता है तब वही ध्यान समाधि हो जाता है। अर्थात् ध्यान करते–करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, बदल जाता है, उसी में अवस्थित हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है और उसको ध्येय से भिन्नता की उपलब्धि या अनुभव नहीं होता उस समय उस ध्यान का नाम ही स्वस्थ शून्यता या समाधि हो जाता है।

समाधि का वर्णन करते हुए पतंजलि ने लिखा है– ''सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्यसमाधिः परिणामः। अर्थात् जिस अवस्था में चित्त में सर्वार्थता (अनेक पदार्थों पर चित्त के विचरण) का क्षय और एकाग्रता (एक आलंबन पर चित्त की स्थिरता) का उदय हो उसको चित्त समाधि परिणाम कहते हैं। इसके

लिए लम्बे समय तक अभ्यास की आवश्यकता है। श्रद्धा के बिना अभ्यास नहीं हो सकता। श्रद्धा से वीर्य (तत्परता और उत्साह) उत्पन्न होता है। वीर्य से स्मृति की शुद्धता बढ़ती है। स्मृति के शुद्ध होने पर चित्त में एकाग्रता और स्थिरता की वृद्धि होती है। जब चित्त की एकाग्र वृत्ति प्रबल होती है और अन्य वृत्तियां सुप्त हो जाती है तब प्रज्ञा प्रकट होती है। समाधि की इस स्थिति को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भास होता है। अहंभाव बना रहता है। ऐसी अवस्था में चित्त एकाग्र होता है और निरोध के अत्यन्त निकट होता है परन्तु पूर्ण निरोध नहीं होता है। इस समाधि को सबीज समाधि–सालंबन समाधि और प्रज्ञा सहित समाधि भी कहते हैं। समाधि के अन्तराल में होने वाली सूक्ष्म अवस्थाओं का वर्णन बौद्ध योग में बहुत विस्तार से मिलता है। वैसे ही कुछ अन्तर के साथ योगसूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि के निम्नलिखित चार स्तर माने गये हैं–

1. **सवितर्क समाधि–** सर्वप्रथम साधक एक स्थूल आलम्बन (वितर्क) जैसे हाथी पर चित्त को केन्द्रित करता है। यह धारणा क्रमशः ध्यान और समाधि में परिणत होती है। यह सवितर्क समाधि है।
2. **सविचार समाधि–** चित्त की एकाग्रता जब आलम्बन के स्थूल पक्षों पर न होकर सूक्ष्म पक्षों पर विचरण करती है जैसे किसी एक तन्मात्रा (स्पर्श, रस, गंध, रूप या शब्द) पर तो उस समय जो समाधि की अवस्था प्राप्त होगी वह सविचार समाधि कहलाती है।
3. **सानन्द समाधि–** एकाग्रता बढ़ने से सत्व गुण ही शेष रहता है। अन्य दोनों गुण समाप्त हो जाते हैं। आनन्द की अनुभूति तीव्र हो जाती है। इसे सानन्द समाधि कहते हैं।
4. **सास्मिता समाधि–** एक अवस्था आती है जब आनन्द के साथ अपने अस्तित्व का बोध होता है। यह सास्मिता समाधि है।

इस प्रकार हम देखते हो कि अष्टांग योग बुद्धिगम्य, स्वरूप प्राप्ति हेतु योगाभ्यास की व्यवस्था है जिसका अंतिम लक्ष्य परम ब्रह्म का साक्षात्कार करना है। अष्टांग योग के आठों अंग बुद्धि गम्य उपाय हो जिनसे शारीरिक तथा मानसिक विकास होता है।

असम्प्रज्ञात समाधि

इसकी परिभाषा करते हुए पतंजलि ने लिखा है, विरामप्रत्याभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।3 अर्थात् संस्कार शेष रह जाते हैं अन्य सभी चित् वृत्तियां लुप्त हो जाती हैं। इस दशा में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद मिट जाता है। अहंभाव नहीं होता। किसी प्रकार का आलम्बन भी नहीं होता अर्थात् जो बीज या आलम्बन पकड़ा था वह छूट जाता है। इस असम्प्रज्ञत समाधि को निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

2.5 निष्कर्ष

1. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि–ये आठ प्रकार बताये गये हैं।
2. पातंजल योग में मैत्री, करुणा, प्रमोद और मध्यस्थता–ये चार भावनाएं दी गई हैं।
3. पातंजल योग में पांच वृत्तियों का उल्लेख है–प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।
4. पातंजल योग दर्शन का काल 200 ईसा पूर्व माना जाता है। यह एक प्राचीन पद्धति है। यह एक व्यवस्थित अध्ययन व साधना पद्धती है।
5. पातंजल योग का ध्येय कैवल्य की प्राप्ति है जो चित्त वृत्तियों के निरोध एवं समाधि के द्वारा प्राप्त होती है।
6. आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं; सर्वथा शुद्ध मानते हैं।
7. चित्तवृत्ति निरोध रूपी योग मान्य है। चित्त की स्थिरता पर विशेष बल दिया गया है।
8. पातंजल योग दर्शन समाधि का सूत्र है। इसमें समाधि की पूरी प्रक्रिया बतलाई गई है। इसका आधार चित्त की स्थिरता है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. पातंजल योगसूत्र के लेखक कौन है?
2. पातंजल योगसूत्र को कितने पादों में विभक्त किया गया है?
3. योग की क्या परिभाषा है?
4. क्रिया योग कितने प्रकार का है?
5. समाधि कितने प्रकार की है?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. निम्न में से किन्हीं दो पर टिप्पणी लिखिए– 1. समाधिपाद, 2. संप्रज्ञात समाधि, 3. क्रियायोग

3. निबंधात्मक प्रश्न–

1. अष्टांग योग पर प्रकाश डालिए।
2. महर्षि पतंजलि के अनुसार समाधि पर प्रकाश डालिए।

इकाई – 3

हठ योग का परिचय

रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 भूमिका

3.2 हठ योग

3.3 नाद उपासना

3.3.1 आरम्भावस्था

3.3.2 घटावस्था

3.3.3 परिचयावस्था

3.3.4 निष्पत्ति अवस्था

3.4 हठ योग में ध्यान देने योग्य प्रमुख बातें

3.5 निष्कर्ष

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से हठ योग क्या है? इसके आदि प्रवर्तक कौन है? नाद उपासना के बारे में जानकारी प्राप्त होगी। इसके साथ ही हठ योग के बारे में कुछ विशिष्ट जानकारियां भी मिलेगी।

3.1 भूमिका

हठ योग, योग का एक प्राचीन रूप है जिसके प्रवर्तक के रूप में शिव को माना गया है। ऐसी मान्यता है कि महादेव ने सबसे पहले संकेत रूप में गौरी को योग का उपदेश दिया था। इसलिए यह माना जाता है कि पार्वती को सर्वप्रथम हठ योग का उपदेश प्राप्त हुआ था। नाथ परंपरा भी आदिनाथ को ही हठ योग का प्रवर्तक मानते है।

3.2 हठ योग

हठ योग के आदि आचार्य के नाम के बारे में कहना कठिन है। हठ योगियों का मानना है कि शिव ही हठ योग के प्रवर्तक हैं। महादेव ने गौरी को संकेत रूप में योग का उपदेश दिया, जिसे दत्तात्रेय योगशास्त्र में श्लोकित किया गया है। ब्रह्मानन्द ने भी ज्योत्सना टीका में कहा है कि "आदिनाथ ही सर्वेश्वर 'शिव' है जिन्होंने हठयोग का सर्वप्रथम उपदेश पार्वती को दिया था।" नाथ सम्प्रदाय के योग परम्परा के सिद्धयोगी भी आदिनाथ को ही शिव कहते हैं, उनके अनुसार योगविद्या के आरम्भकर्ता परमेश्वर शिव हैं, जिन्होंने ही योग का उपदेश दिया और जो स्वयं योगासन की मुद्रा में रहते हैं। खेचरी विद्या और महाकाल संहिता नामक ग्रन्थ के रचयिता आदिनाथ हैं। हठ योग के महानतम योगियों में मत्स्येन्द्रनाथ का नाम सबसे पहले आता है। इसके अलावा नाथ सम्प्रदाय से सम्बन्धित अनेक योगी जैसे गोरखनाथ, चर्पटि, विचारनाथ, कनेड़ी, जलन्धर आदि ने हठ योग में पारंगत होकर इसका प्रचार–प्रसार किया। आचार्य गोरक्षोपदिष्ट ने

हठयोग के छः अंग बताये हैं जिनमें यम और नियम का समावेश नहीं है। चूंकि मार्कण्डेय मुनि को योगी जन मत्स्येन्द्रनाथ से पूर्व के मानते हैं और अष्टांग हठ योग के पक्षपाती थे।

स्वात्माराम योगी का मत है कि "इस हठयोगविद्या का यथार्थ ज्ञान केवल योगी मत्स्येन्द्रनाथ, योगी गोरक्षनाथ आदि योगियों को ही ज्ञात है, जिनके द्वारा प्रसाद रूप से हम भलीभाँति जान पाये हैं।" अतः हम कह सकते हैं कि हठयोगविद्या योगी मत्स्येन्द्रनाथ, योगी गोरक्षनाथ आदि योगियों के सम्प्रदाय से आ रही है। योगी मत्स्येन्द्रनाथ ही योगी गोरक्षनाथ के गुरू थे, जिनके द्वारा ही नाथ सम्प्रदाय का गठन किया गया, जिसका प्रचार–प्रसार और विकास योगी गोरक्षनाथ ने योगमार्ग के रूप में किया।

वास्तव में देखा जाये तो हठ योग का निष्कर्ष राजयोग ही है। हठयोग की नियमित साधना से राज योग की ही सिद्धि प्राप्त होती है। ब्रह्मानन्द अपनी टीका में लिखते हैं कि सम्प्रज्ञात समाधि के बाद जब ब्रह्मकार की स्थिति का उदय होता है तब पर–वैराग्य धारण करके चित्त को निरूद्ध करना जरूरी है। इससे यह स्पष्ट है कि हठ योग से स्वभावतः राज योग का विकास होता है।

हठयोगी के लिए आवश्यक निर्देश बताते हुए कहा गया है कि वह अतिशय रमणीय, उपद्रव रहित, धनधान्य से परिपूर्ण और जहाँ भिक्षा सहज भाव से प्राप्त हो सके, ऐसे प्रदेश में धनुष के प्रमाण भर अर्थात् चारों ओर धनुष के बराबर विस्तृत, कंकड़–पत्थर, अग्नि और जल से रहित, सुन्दर मठिका अर्थात् छोटे से गृह में निवास करे। हठयोग का अभ्यास करने के लिए आवास का द्वार छोटा हो उसमें छिद्र, गड्ढे और चूहे आदि के बिल न हों, बहुत ऊँचा–नीचा और लम्बा–चौड़ा न हो। भली प्रकार गोबर की लिपाई उसमें की गयी हो, उसमें किसी प्रकार के कीड़े–मकोड़े, सर्प, बिच्छू, चूहे आदि न हों। उसके बाहर मंडप, वेदी और कुआँ आदि की सुविधाएं हों तथा चारों ओर दीवार से घिरा हो, जिससे योगाभ्यास में किसी प्रकार की असुविधा न हो। इसके साथ ही ये भी कहा गया है कि अधिक भोजन करने, अत्यधिक बात करने, अत्यधिक प्रयास करने, नियमों की कठोरता, अधिक सामाजिकता तथा लालच इन छः तत्वों के द्वारा योग साधना नष्ट होती है, इससे योग साधक को कभी भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, अपितु उत्साह, साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, दृढ़ निश्चय और एकान्तवास इन छः तत्वों से ही योग सिद्ध होता है।

भोजन आदि के बारे में हठयोग के साधक के लिए कहा गया है कि जो योगाभ्यासी योगाभ्यास में शीघ्र सफलता चाहते हैं, उन्हें निम्नलिखित पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए– कडुआ, खट्टा, तीखा, नमक, ऊष्ण प्रकृति वाले पदार्थ, हरे शाक, बेर, तेल, तिल, सरसों और राई, मद्य, मछली, बकरी आदि का मांस, दही, मट्ठा, कुलथी, कालीमिर्च, हींग, लहसुन, प्याज, शलजम, गाजर, उड़द आदि तथा अन्य अहितकर आहार वह है जो दुबारा गर्म किया गया हो, रूखा, अधिक नमक युक्त, खटाई से युक्त, विकृत हुआ एवं शाक प्रधान वाला आहार त्याग देना चाहिए। इसी प्रकार अभ्यास के प्रारम्भिक दिनों में आग तापना, स्त्री सेवन और यात्रा से दूर रहना चाहिए। पथ्य के लिए योगी का आहार है – गेहूँ, पुराना चावल, जौं, साठी–चावल, ताजा आहार, दूध, घृत, श्रीखण्ड, मक्खन, शक्कर, मधु, सोंठ और परवल आदि पांच फल अर्थात् परवल, लौकी, तुरई, कुसमाण्डा और खीरा तथा पांच शाक – जीवन्ती, बथुआ, मूलाक्षी, मेघनाद और पुनर्नवा जो पाचों चाक्षुश्य हैं और मूंग आदि। योगी को चाहिए कि वह पोषणयुक्त, मधुर, घृत आदि से बना आहार गौ का दूध, घृत और धातुओं को पुष्ट करने वाला रुचिकर और अनुकूल आहार ग्रहण करे।

स्वात्माराम कृत हठयोग प्रदीपिका में कुल 15 आसनों का वर्णन प्राप्त होता है जो निम्न प्रकार से हैं–स्वास्तिकासन, गोमुखासन, वीरासन, कूर्मासन, कुक्कुटासन, उत्तानकूर्मासन, धनुरासन, मत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन, मयूरासन, शवासन, सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन। इनमें से चार आसन सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रास को श्रेष्ठ आसन माना हैं और इनमें भी सर्वश्रेष्ठ आसन मात्र एक आसन सिद्धासन है। अतः सिद्धासन में सुखपूर्वक बैठकर साधक को निरन्तर साधना करनी चाहिए। इसी प्रकार महर्षि घेरण्ड कृत घेरण्ड संहिता में कुल 32 प्रकार के आसनों का वर्णन प्राप्त होता है जो निम्न प्रकार से हैं– सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, स्वास्तिकासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, संकटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, मण्डूकासन, उत्तानमण्डूकासन, वृक्षासन,

गरूड़ासन, वृषासन, शशांकासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजंगासन और योगासन। श्रीमद्भगवद्गीता में भी योगीराज श्रीकृष्ण ने नासिकाग्र (भ्रूमध्य) पर आत्मभाव को स्थिर कर किसी दिशा में न देखने अर्थात् नेत्रों को बंद करने के साथ ऐसे आसन को धारण करने का उपदेश दिया है, जिसमें बिना हिले–डुले देर तक बैठा जा सके।

हठयोग के बारे में आमजन की यह धारणा है कि हठ शब्द के हठ् + अच् प्रत्यय के साथ प्रचण्डता या बल अर्थ में प्रयुक्त होता है । हठेन या हठात् क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त करने पर इसका अर्थ बलपूर्वक या प्रचंडता पूर्वक अर्थ में लिया जाता है । हठ विद्या स्त्रीलिंग अर्थ में बलपूर्वक मनन करने के विज्ञान के अर्थ में ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार सामान्यतः लोगों का मानना है कि इसमें हठ पूर्वक कुछ शारिरीक एवं मानसिक क्रियाओं को किया जाता है ।

हठ योग का तात्पर्य इसके अर्थ में छिपा है। 'ह' और 'ठ' अर्थात् 'ह' माने सूर्य स्वर, पिंगला नाड़ी। 'ठ' माने चन्द्र स्वर, इड़ा नाड़ी। वायु को अन्दर खींचना है–'ह'। वायु को बाहर छोड़ना है–'ठ'। 'ह' से पिंगला नाड़ी दहिनी नासिका (सूर्य स्वर) तथा 'ठ' से इड़ा नाडी बॉयी नासिका (चन्द्रस्वर)। इड़ा ऋणात्मक उर्जा शक्ति एवं पिगंला धनात्मक उर्जा शक्ति है । इस प्रकार **ह** और **ठ** का योग अर्थात् **हठयोग** है, जो कि सम्पूर्ण शरीर की **जड़ता** को दूर करता है एवं प्राण की अधिकता नाड़ी चक्रों को सबल एवं चैतन्य युक्त बनाती है ओर व्यक्ति विभिन्न शारीरिक, बौद्धिक एवं आत्मिक शक्तियों का विकास करता है । स्थूल रूप से हठ योग अथवा प्राणायाम क्रिया तीन भागों में पूरी की जाती है –

(1) रेचक – श्वास को सप्रयास बाहर छोड़ना ।

(2) पूरक – श्वास को सप्रयास अन्दर खींचना ।

(3) कुम्भक – श्वास को सप्रयास रोके रखना कुम्भक।

इस प्रकार सप्रयास प्राणों को अपने नियंत्रण से गति देना **हठयोग** है। यह हठयोग राजयोग की सिद्धि के लिए आधारभूमि बनाता है।

वायु को अन्दर लेना और बाहर छोड़ना। यह जो ज्ञान है यह हठ योग के बिना संभव नहीं है।

यम, नियम, आसनादि से नाड़ियों पर विजय प्राप्त की जाती है। नाड़ी विजय ही श्वास–विजय है। श्वासविजय अर्थात् साधक का अभ्यास इतना सघन हो जाये कि श्वास–प्रश्वास साधक के अधीन हो जाये।

स्वर विज्ञान का स्वतन्त्र ग्रन्थ शिवस्वरोदय में इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ी के चलने का विस्तृत वर्णन किया गया है।

प्राणों को नियंत्रित कर मन पर नियंत्रण प्राप्त करके का कौशल है– हठयोग। हठयोग ''शारीरिक और मानसिक शुद्धि तथा संतुलन प्राप्त करने का साधन है''

फेफड़ों में से बाहर आने वाले वायु को प्राण और 'ह' कहते हैं, उष्ण होने के कारण इसका नाम सूर्य है। बाहर से जो वायु भीतर फेफड़ों में खींचा जाता है वह अपान और 'ठ' है। शीतल होने के कारण इसे 'चनु' कहते हैं। इसी सूर्य और चनु अर्थात् प्राणापान की क्रिया के नियमित संयोग को हठयोग कहते हैं।

हठयोग के चार अंग माने गये हैं– आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसन्धान।

आसनों से नाड़ियां मुलायम बनती हैं। शरीर रोगों से मुक्त होता है। हठयोग प्रदीपिका में स्वात्माराम योगी ने बताया है कि सिद्धासन का सतत् अभ्यास मोक्ष के बन्द द्वार खोलने वाला है

हठ योग का मुख्य उद्देश्य देह की शुद्धि रहा है। घेरण्ड संहिता के अनुसार हठ शास्त्रोक्त, धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति इन षटकर्मों से शरीर की शुद्धि होती है।

हठ योग के अनुसार लम्बे समय तक आसनों के अभ्यास से साधक में रजो गुण प्रधान शरीर की चंचलता और मन की अस्थिरता दूर हो जाती है। आसनों के अभ्यास से तमो गुण दूर होकर शरीर में

हल्कापन आता है ओर सात्विकता की वृद्धि होती है। बार–बार के अभ्यास से आसनों में स्थिरता और प्राणायाम सहज साध्य हो जाता है। विधिपूर्वक प्राणायाम करने से सुषुम्ना नाड़ी के समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए शाण्डिल्य उपनिषद् में नाड़ी शोधन प्राणायाम को कई महिनों तक दिन में दो बार करने के लिए कहा गया है। टीकाकारों के अनुसार 43 दिन से एक साल तक इस प्राणायाम को करने का कहा गया है। जब नाड़ियां शुद्ध होने लगती है तो देह में लघुता, कान्ति और आरोग्यता का प्रादुर्भाव होने लगता है।

इड़ा एवं पिंगला के प्रवाह में हमारा मन बर्हिगति वाला ही रहता है। मन को अन्तर्मुखी करने हेतु प्राण को सम अर्थात न तो इड़ा और न ही पिंगला में प्रवाहित होने देना है, बल्कि इन दोनों के मध्य स्थित नाड़ी जिसे सुषुम्ना कहते हैं प्राणों का प्रवाह होने पर मन शांत एवं स्वानियंत्रित हो जाता है।

इड़ा और पिंगला के मध्य सन्तुलन की स्थापना करना ही हठ योग है। इड़ा नाडी हमारे शरीर की एक प्रमुख प्राणिक वाहिका है । यह प्राण के निष्क्रिय पहलू का प्रतीक है जो मनःशक्ति या चित्तशक्ति के रूप में अभिव्यक्त और अनुभूत होती है । पिंगला का सम्बन्ध तेजस्वी शक्ति या सक्रियता से है। जो शारीर में प्राणशक्ति के रूप में अभिव्यक्त और अनुभूत होती है। इस प्रकार हठयोग का सम्बन्ध शरीर के प्राणिक प्रवाह से है । प्राणों को नियंत्रण की साधना पद्धति से है। इस कारण हठयोग को प्राणयोग भी वेदों में कहा गया है।

प्राण वायु के चंचल रहने पर चित्त भी चंचल रहता है तथा प्राणवायु स्थिर होने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है। योगाभ्यासी को स्वयं के चित्त में स्थिरता लाने के लिए प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए, जिससे उसके प्राण वायु में स्थिरता आ सके। इससे वह योगाभ्यासी दीर्घायु हो जाता है। अतः योगाभ्यासी को अपने दीर्घजीवन के लिए शरीर में स्थित वायुनिरोध हेतु योगाभ्यास करना चाहिए, जब तक शरीर स्थित नाड़ियाँ मल–दोष युक्त रहेंगी तब तक शरीर स्थित प्राणवायु भी मध्यस्थ (सुषुम्ना) नाड़ी में होकर प्रवाहित नहीं हो सकती क्योंकि वह प्राणवायु नाड़ियों के निर्मल होने पर ही सुषुम्ना मार्गस्थ होकर प्रवाहित हो पाता है। जब नाड़ियां का मल दूर हो जाता है तभी अभ्यासी प्राण निरोध करने में अर्थात् कुम्भक करने में समर्थ होता है इसलिए योगाभ्यासी को चाहिए कि सात्विक बुद्धि से प्रतिदिन प्राणायाम करे जिससे सुषुम्ना नाड़ी के मल दूर हो सकें।

हठयोग प्रदीपिका में आठ कुम्भक प्राणायाम बताये गये हैं–सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लावनी। स्वात्माराम योगी के अनुसार– प्राणायाम करने में पूरक करके जालन्धर बंध करना चाहिए और कुम्भक के अन्त में रेचक के पूर्व उड्डियान बंध करना चाहिए। कुम्भक करते समय जब नीचे से संकोचन रूप मूल बन्ध, कंठ संकोचन रूप जालंधर बन्ध, उदर को पीछे तानने रूप उड्डियान बन्ध किया जाता है। तब प्राण शीघ्र ही ब्रह्म नाड़ी सुषुम्ना में प्रवेश कर लेता है। अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास में बन्ध का अभ्यास प्राणायाम सिद्धि का कारण है।

हठयोग प्रदीपिका में कहा है कि प्राणायाम के द्वारा जो श्रम होता है उसके कारण उत्पन्न स्वेद से शरीर में मर्दन करना चाहिये, जिसके फलस्वरूप शरीर दृढ़ और हल्का हो जाता है। अभ्यास के प्रारम्भिक दिनों में दूध और घृत का भोजन करना उत्तम होता है और अभ्यास के स्थिर हो जाने पर इस प्रकार के नियम का आग्रह आवश्यक नहीं होता है। जिस प्रकार धीरे–धीरे प्रयत्न करने पर शेर, हाथी और बाघ भी वश में हो जाते हैं उसी प्रकार धैर्यपूर्वक धीरे–धीरे अभ्यास करने पर प्राणवायु अभ्यासी के वश में हो जाती है। इसके विपरीत हठपूर्वक शीघ्रता करने पर अभ्यासी स्वयं की मृत्यु का कारण हो सकता है। समुचित विधि से प्राणायाम का अभ्यास करने से साधक के सब रोगों का नाश हो जाता है और विपरीत विधि द्वारा प्राणायाम के अभ्यास करने से इसके दुष्परिणाम भी हो सकते हैं। वायु के कुपित होने से हिचकी, दमा, खांसी और सिर, आँख, कान आदि की पीड़ा इत्यादि विविध विकार उत्पन्न हो जाते हैं। योगाभ्यासी को गुरू द्वारा बतलायी गयी विधिपूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। इससे ही उसे सिद्धि प्राप्त होती है। जब नाड़ी शुद्ध हो जाती है तब मोटापे में कमी, हल्कापन और शरीर में चमक आ जाती है। इस प्रकार नाड़ीशोधन होने पर अभ्यासी इच्छानुसार प्राणों को रोक सकता है। जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है,

अनहद् नाद प्रकट हो जाता है और अभ्यासी पूर्णतः निरोगी हो जाता है। शरीर का हल्का हो जाना, मुख पर निरन्तर प्रसन्नता का रहना, अनहत नाद स्पष्ट सुनाई पड़ना, नेत्रों का निर्मल होना, शरीर का पूर्ण निरोग होना, बिन्दु पर विजय, जठराग्नि का तीव्र होना और सुषुम्ना नाड़ी की पूर्ण सिद्धि होना यह भी हठयोग सिद्धि के लक्षण हैं।

त्रिशिखिब्राह्मण में उपनिषद् में कहा गया है कि जब तक यम नियम और आसनों पर विजय प्राप्त नहीं हो जाती तब तक प्राणायाम की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। चूंकि हठाचार्यों का यह भी कहना है कि वायु, पित्त और कफ के असंतुलन होने पर षट्कर्म की आवश्यकता रहती है। अन्यथा षट्कर्म की साधक को कोई आवश्यकता नहीं रहती है। याज्ञवल्क्य प्रभृति आचार्य ने तो यहां तक कहा है कि एकमात्र प्राणायाम से समस्त विकारों की निवृत्ति हो सकती है तो षट्कर्म की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती है।

षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि– ये हठ योग के सात अंग हैं।

षट्कर्मों के लिए हठयोगप्रदीपिका में कहा है–

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्व षट् कर्माणि समाचरेत्।

अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः।।

अर्थात् जिस पुरुष के मेद और श्लेष्मा अधिक हों वह पुरुष प्राणायाम से पहले इन छः कर्मों को करें और इनके न होने से दोषों की समानता के कारण न करें।

हठ योग के प्रथम अंग में षट्कर्मों का वर्णन मिलता है। इसका द्वितीय अंग में आसनों के बारे में बताया गया है। आसनों की कुल संख्या चौरासी लाख बताई गई हैं।

हठयोगप्रदीपिका में प्रधान आसन चार एवं सिद्धासन को सर्वश्रेष्ठ आसन बताया गया है।

सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र– ये चार मुख्य आसन हैं, इनमें भी श्रेष्ठ यह है कि सदा सुखपूर्वक सिद्धासन पर बैठें।

हठ योग में मुद्रा की साधना का भी बहुत महत्त्व है। हठ योग के अनुसार मुद्रा साधना से कुण्डलिनी का जागरण होता है और वह ब्रह्मरन्ध्र की ओर ऊपर की ओर उठती है जिससे चक्रों का भेदन होता है और प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करने लगता है जिससे साधक मृत्यु भय से छुटकारा पा लेता है।

अगले अंग में मुद्रा है। मुद्राओं के बारे में कहा गया है कि जिन क्रियाओं से प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अंगों की सिद्धि में सहायता मिलती है उन क्रियाओं का नाम मुद्रा है।

महामुद्रा, नयोमुद्रा, जालन्धर, उड्डियान, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेधा, नाड़ी, तड़ागी, खेचरी, मतंगी, विपरीतकरणी, योनिमुद्रा, वज्रोली, भुजंगिनी, पाशिनी माण्डूकी, शक्तिचालिनी, शाम्भवी, अश्विनी और पंच धारण प्रमुख मुद्रायें हैं।

खेचरी मुद्रा के लिए घेरण्डसंहिता में कहा गया है–

जीभ को धीरे–धीरे तालु के अन्दर प्रवेश कराना चाहिए। इसके बाद जीभ को ऊपर की ओर उलटकर कपालकुहर में प्रवेश कराकर दोनों भौहों के मध्य में दृष्टि स्थिर करने पर खेचरी मुद्रा होती है।

जिस प्रकार वन पर्वतों सहित पृथ्वी का आधार शेषनाग माना जाता है, उसी प्रकार योगतंत्र की समस्त क्रियाओं की सिद्धि का आधार कुण्डलिनी है। गुरू की कृपा से जब सोई हुई कुण्डली अर्थात् प्राणशक्ति जागृत हो जाती है, तब मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनहद्, विशुद्धि और आज्ञा सभी चक्र अर्थात् चेतना के केन्द्र जग जाते हैं और ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्र ग्रान्थियाँ खुल जाती हैं, प्राण के शून्य–मार्ग, ब्रह्म नाड़ी में प्राणों का संचार हो जाता है। चित्त प्रमाण आदि वृत्तियों से रहित हो जाता है और योगी मुत्यु को जीत लेता है तथा ''सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्यमार्ग एक

ही शब्द के वाचक कहलाते हैं'' इसलिए ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्ना के मुख अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र के मुख के निकट सोई हुई कुण्डलिनी) को जाग्रत अर्थात् क्रियाशील करने के लिये मुद्राओं के अभ्यास का निर्देशश है, ''जिनका अभ्यास रोग, बुढ़ापा और मृत्यु को नष्ट कर देता है। वह महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध मुद्रा, खेचरी, उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली और शक्तिचालन मुद्रा हैं।'' इन दस मुद्राओं का यह समूह दिव्य है, जो आदिनाथ द्वारा बताया गया है, जो अणिमा,

आदि आठों सिद्धियों को देने वाला है। सब सिद्धों को प्रिय है और मरुद्गणों के लिए भी सहज प्राप्त होने योग्य नहीं है। इन मुद्राओं को रत्न भण्डार के समान गुप्त रखना चाहिए। जो निरन्तर ब्रह्मचर्य का पालन करके हितकारक और मित अर्थात् स्निग्ध, मधुर, अल्पाहार करता है। जब कुण्डलिनी का अभ्यास करता है तो उसे एक मण्डल अर्थात् 40 दिनों में सिद्धि प्राप्त हो जाती है। 72000 नाड़ियों के मल को दूर किये बिना कुण्डलिनी जागरण का अन्य कोई उपाय नहीं है। आसन, प्राणायाम और मुद्राओं के अभ्यास से नाड़ी शुद्ध हो जाती है, जो लोग अभ्यास करने में शिथिल नहीं हैं, वे समाधि द्वारा मन को स्थिर करके अथवा शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास करके कल्याण करने वाली सिद्धियों को प्राप्त कर सकते हैं। राजयोग के बिना आसन, प्राणायाम और अनेक मुद्रायें सुख–शान्ति प्रदान नहीं कर सकती हैं। अतः आदिनाथ ने इन मुद्राओं का उपदेश किया है।

हठ योग का सिद्धान्त स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का है। इस सिद्धान्त के अनुसार स्थूल शरीर की साधना करते हुए सूक्ष्म शरीर पर विजय प्राप्त की जाती है।

हठ योग से ध्यान को ज्योत्यिर्ध्यान कहते हैं तथा इससे प्राप्त होने वाली समाधि महाबोध समाधि कहलाती है।

दक्षिण स्वर सूर्य और वाम स्वर चन्द्र है। इन दोनों की क्षमता का नाम हठ योग है।

प्राणायाम के द्वारा साधक प्राण वायु की गति को एक–एक, दो–दो अंगुल क्रमशः कम करते हुए जब द्वादश अंगुल बाहर की गति बन्द हो जाये और केवल नासिका के भीतर ही दोनों स्वर सम होकर सुषुम्ना से जिस अवस्था में प्राण चले उस अवस्था का नाम 'हठ' है।

गीता में भी हठ योग के बारे में कहा गया है कि–

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।

अथवा प्राणनिरोध द्वारा मन का निरोध हठ योग है।

यम, नियमादि नाम से प्रसिद्ध जो अष्टांगयोग है। उसके द्वारा अथवा महामुद्रा, महाबन्धादि दस प्रकार के बन्ध समूहों से, अथवा धौति, बस्ति आरिषट् कर्मों से, अथवा रेचक पूरक, प्राणायामों को छोड़कर केवल कुम्भक प्राणायाम से वायु को वश में कर लेना हठ योग कहलाता है।

शरीर मन एवं प्राण को वश में करना हठयोग का लक्ष्य है। क्योंकि शरीर और मन की साधना किये बिना आध्यात्मिक लाभ प्राप्त नही किया जा सकता। हठयोग में इस मिलन को प्राप्त करने के लिए षट्कर्म आसन, प्राणायाम, मुद्रा, प्रत्याहार, नादानुसंधन आदि का वर्णन किया गया है। हठयोग प्रदीपिका में मुख्य रूप से चार अंगों का वर्णन किया गया है। जो इस प्रकार है–1. आसन 2. प्राणायाम 3. मुद्रा एवं 4. नादाननुसंधन।

घेरण्ड संहिता में हठयोग के साधनों का वर्णन करते हुए कहा गया है–

योगाभ्यासी पुरुष को सात साधनों का अभ्यास करना चाहिए।

1. शरीर की शुद्धि, 2. शरीर को दृढ़ करना 3. शरीर में स्थिरता लाना, 4. धैर्य की प्राप्ति करना, 5. शरीर को हल्का करना, 6. प्रत्यक्ष करना और, 7. निर्लिप्तता, ये सात साधन किनसे प्राप्त होते है। इसका वर्णन करते हुए 'घेरण्ड संहिता में कहा गया है।–

षट्कर्मो के द्वारा शरीर की शुद्धि होती है। आसनों से शरीर दृढ़ होता है। मुद्राओं से शरीर में स्थिरता आती है। प्रत्याहार से धैर्य की प्राप्ति होती है। प्राणायाम के द्वारा शरीर लघुता को प्राप्त होती है। तथा समाधि से चित्त र्निलिप्त होता है। जिससे अवश्य ही मुक्ति हो जाती है। इसमें कोई संशय नहीं है।

हठयोग विद्या में षट्कर्म व प्राणायाम का वर्णन मुख्य तौर पर स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के शुद्धीकरण हेतु किया गया है, जो योग की उच्च अवस्थाओं की प्राप्ति हेतु आवश्यक है। सहजानन्दनाथ कृत हठयोग मंजरी, श्रीनिवास भट्ट कृत हठरत्नावली, सुन्दर देव कृत हठसंकेतचन्द्रिका, हठतत्वकौमुदी, रघुवीर कृत षट्कर्म पद्धति, नाथ अघोरानन्द कृत योग कर्णिका और गोरक्षनाथ कृत गोरक्षसंहिता में षट्कर्मों का विवेचन प्राप्त होता है।

हठ योग में साधना के अन्तर्गत बन्धों का बहुत महत्त्व है। त्रिबन्ध की साधना से स्वास्थ्य, प्राण–अपान की समानता बिन्दुजय आदि लाभ प्राप्त कर सकते हैं। यदि साधक आसनों में सर्वश्रेष्ठ आसन सिद्धासन में इन तीनों बन्धों की साधना करे तो अपान प्राण प्राण में मिल जाता है। स्वप्नदोष तो कभी होगा ही नहीं। सिद्धासन के समय यदि मूल बन्ध के साथ खेचरी मुद्रा लगायी जाये तो अपान वायु प्राणवायु में मिल जाता है। बद्ध पद्मासन से सभी रोगों का नाश एवं शरीर की बहत्तर हजार नाड़ियों का शोधन हो जाता है।

प्राणायाम के बारे में हठयोग में कहा गया है कि यह सब रोगों को नष्ट करने वाला है परन्तु प्राणायाम को गलत ढंग से किया जाये तो इससे सब रोगों की होने की संभावना भी रहती है। जैसे–जैसे प्राणायाम सम्यक् होता जाता है वैसे–वैसे वात, पित्त और कफ सम होते जाते हैं और शरीर निरोग हो जाता है। कुम्भक से मन मलरहित हो जाता है। धारणा से सभी पापों का नाश होता है। प्रत्याहार से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। ध्यान से परमात्मा का ज्ञान होता है और समाधि से साधक मुक्ति को प्राप्त होता है।

प्राणायाम से वायु निरोध के कारण इन्द्रियां अपने सभी दुर्गुणों को छोड़कर निर्मल हो जाती हैं जिससे साधक का प्राण बहिर्गमन नहीं होता और जिसका प्राण बहिर्गमन नहीं होता उसकी मृत्यु कैसी?

मराठी भाषा के योगग्रन्थ एकनाथ जी कहते हैं–

प्राणवायूचें धारण तेंचि स्वच्छन्द मृत्युचें लक्षण।

अर्थात् जिस योगी ने प्राणवायु अपने वश में करके केवल कुम्भक की सिद्धि कर ली है उसकी ईच्छा मृत्यु होती है। अर्थात् यदि केवल कुम्भक सिद्ध हो गया, उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से केवल कुम्भक की अवस्था आ जाती है, जिसमें रेचक, पूरक क्रियाओं का निषेध हो जाता है। इड़ा–पिंगला नाड़ियाँ सम अवस्था में स्थित हो जाती हैं और सुषुम्ना का द्वार खुल जाता है। सुषुम्ना के सक्रिय होने से प्राणायाम का फल प्राप्त होता है, जिससे हमारे अन्तस में जो प्रकाशपुंज विकारों के आवरण से ढका है, वह आवरण क्षीण होने लगता है और साधक को प्रकाश रूप में ईश्वरीय शक्ति का आभास होता है, ईश्वरीय शक्ति के प्रकाशित होने को हठयोग विद्या में कुण्डलिनी का जागरण कहा गया है। इसी पर कुण्डलिनी जागरण और हठयोग की समस्त विधियां केन्द्रित है। प्राणायाम का फल सिद्ध होने पर जो प्रकाश बिन्दु, चमक आदि ध्यान अवस्था में दिखाई पड़ती है, वहीं मनुष्य की प्राण शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी का स्वरूप है। योग की भाषा में हम उसे ईश्वरीय शक्ति कहते है। यह ईश्वरीय शक्ति ही जीव को विभिन्न लोकों की यात्रा करवाती है। इस शरीर में सबसे नीचे भूः–लोक है और सबसे ऊपर सत्यलोक है।

हठयोग के अन्तर्गत प्राणायाम के अभ्यास से चार अवस्थाओं का अनुभव होता है जिन्हें आरम्भावस्था, घट–अवस्था, परिच्छाया–अवस्था और निष्पत्ति–अवस्था कहते हैं।

त्रिबन्ध के लिए प्राणायाम में कहा गया है कि पूरक में मूलबन्ध, कुम्भक में जालन्धर बन्ध और रेचक में उड्डियान बन्ध करना चाहिए।

मूलबन्ध के सतत अभ्यास से वृद्ध भी जवानतुल्य हो जाता है। जब मूलबन्ध की सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब सभी प्रकार के विघ्न खत्म हो जाते हैं।

जालन्धर बन्ध लगाने पर सोलह आधारों का बन्धन होता है। जो मृत्यु को हटाने वाला है। उड्डियान बन्ध से वायु सुषुम्ना में प्रवेश करती है जिससे ब्रह्मरन्ध्र में वायु का लय हो जाता है।

गीता, गोरक्षसंहिता, हठोयोगप्रदीपिका जैसे ग्रंन्थों में हठयोग को राजयोग की नींव कहा गया है।

जब प्राणशक्ति नाद के रूप में परिवर्तित हो जाती है, तब योगी इस नाद का अन्वेषण करके लय नामक समाधि की सिद्धि प्राप्त करता है। हठ योग में समाधि को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है –समाधि, राजयोग, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवनमुक्ति, सहजावस्था, तुर्यावस्था।

हठयोग प्रदीपिका में समाधि के लिए तीन परिभाषाएँ प्राप्त होती है–

प्रथम– जिस प्रकार जल में सैन्धव नमक मिला देने पर दोनों एक रस (सम) हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा में मन की एकता 'समाधि' कहलाती है। द्वितीय–जब प्राणवायु जीर्ण मन्द होकर मन में लीन हो जाती है तब प्राण एवं मन दोनों की एकरूपता हो जाने पर समाधि कही जाती है। तथा तृतीय–''जीवात्मा और परमात्मा दोनों की एकरूपता और समता हो जाने पर इच्छा मात्र का अभाव हो जाता है, वही समाधि कहलाती है। ज्योत्सना टीका के अनुसार यह प्राप्त होता है कि जिस प्रकार सिन्धु देश में उत्पन्न लवण जल के संयोग से जल का ही रूप प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार आत्मा और मन भी, मन को आत्मा में धारण करने से अर्थात् मन के आत्माकार हो जाने से वे समता को प्राप्त कर लेते हैं। इसी आत्मा और मन के ऐक्य को समाधि शब्द से जाना जाता है।

3.3 नाद उपासना

योग साधक सिद्धासन में बैठकर शाम्भवी मुद्रा लगा के एकाग्रचित्त होकर दाहिने कान में अन्दर होने वाले नाद को सुने। साधक दोनों कानों, दोनों नेत्रों और प्राण के मार्ग दोनों नासिका पुटों को बंद करे। ऐसा करने पर स्पष्टता सुषुम्ना नाड़ी में निर्मल नाद सुनाई पड़ता है। योग की सभी साधनाओं में आरम्भ अवस्था, घट अवस्था, परिचय अवस्था और निष्पत्ति अवस्था नामक चार अवस्थायें प्राप्त होती हैं जो इस प्रकार है–

3.3.1 आरम्भावस्था– इस अवस्था में ब्रह्म ग्रंथि का भेदन हो जाता है। विचार शून्यता के फलस्वरूप अदुभुत आनन्द की अनुभूति होती है। देह में विचित्र प्रकार की अनाहत ध्वनि सुनाई पड़ती है। योगी का शरीर दिव्य तेजस्वी, दिव्य गंध से युक्त, रोगरहित हो जाता है। उसका हृदय शून्यता से परिपूर्ण हो जाता है।

3.3.2 घटावस्था– इसमें वायु शरीर को घट बनाकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाती है। योगी का आसन दृढ़ हो जाता है, वह ज्ञानयुक्त और देवतुल्य हो जाता है। तदन्तर विष्णु ग्रंथि का भेदन हो जाता है तथा अतिशय आनन्द की सूचना देने वाला विमर्द और भेरी (नगाड़ा) शब्द प्रकट होता है।

3.3.3 परिचयावस्था– इस अवस्था में साधक को मृर्दंग (ढोल) वाद्य विशेष की ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह ध्वनि योगी के चित्त को अतिशय आनन्द देती है। इस अवस्था में साधक का प्राणवायु समस्त सिद्धियों के दाता महाशून्य स्थान में पहुँचता है, जो अणिमा आदि सर्वसिद्धियों का आश्रय स्थल है, और यह ध्वनि सहजानन्द का अनुभव कराता है, जिससे वह दोष, दुःख, बुढ़ापा, रोग, भूख और निद्रा से मुक्त हो जाता है और प्राणवायु रुद्र ग्रंथि का भेदन करके शिव स्थान–आज्ञा चक्र में पहुँच जाता है।

3.3.4 निष्पत्ति अवस्था–निष्पत्ति अवस्था में योगी को बजते हुए वेणु (वंशी) सदृश ध्वनि सुनाई पड़ती है, अर्थात् प्राणवायु के ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचनें पर इस अवस्था में चित्त एकाग्र (एकीभूत) हो जाता है, जिसे राजयोग कहते हैं, इस समय योगी ईश्वर के समान सृष्टि की रचना और संहार करने में भी समर्थ हो जाता है।

नादानुसंधान से प्राप्त समाधि के समय श्रेष्ठ योगियों के हृदय में जो अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। वाणी से उसका वर्णन कर पाना संभव नही है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार–दोनों हाथों से कान बंद करके जो ध्वनि सुनाई देती है उस पर जो चित्त स्थिर करता है, वह स्थिर पद अथवा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अभ्यास करने पर यह नाद अन्य बाहरी ध्वनियों को रोक देता है अर्थात् कान में पहुँचने नहीं देता। 15 दिन (एक पक्ष) तक नियमित अभ्यास करने पर योगी सभी विक्षेपों को जीतकर सुखी हो जाता है। नाद योग की साधना के अभ्यास के प्रारम्भिक दिनों में अनेक प्रकार की लौकिक (स्थूल) ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं, कालान्तर में अभ्यास बढ़ने पर क्रमशः ध्वनि सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होने लगती है। प्रारम्भ में समुद्र का गर्जन, मेघ गर्जन, भेरीनाद, झरने से उत्पन्न ध्वनि के समान नाद सुनाई पड़ती है। पुनः मध्यकाल में पुनः मृदंग की ध्वनि, शंख की ध्वनि और घंटा ध्वनि ऐसा नाद सुनाई पड़ता है और अन्त में घुंघुरू (किंकड़ी), वंशी, वीणा और भौंरे के गुंजन जैसी ध्वनि के समान देह के अन्दर अनेक प्रकार के सूक्ष्म शब्दों की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती हैं। जब मेघ, भेरी आदि की तीव्र ध्वनि सुनाई पड़ रही हो तब भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर या अतिसूक्ष्म ध्वनि पर ही ध्यान देने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि चंचल मन कभी स्थूल नाद से सूक्ष्म नाद में और कभी सूक्ष्म से स्थूल नाद में जाता है, तो भी उसे वहाँ से मन को अन्यत्र न ले जायें। जैसे पुष्परस (मकरन्द) को पीता हुआ भंवरा उस पुष्प की गन्ध की आकांक्षा नहीं रखता, वैसे ही योगी का नादासक्त चित्त अन्य लौकिक विषयों की आकांक्षा नहीं रखता है और विषयरूपी बगीचे में घूमते हुए मनरूपी मतवाले हाथी को नियंत्रण करने पर नादरूपी तेज नोक वाला अंकुश समर्थ है, यही प्रत्याहार की अवस्था है, क्योंकि चक्षु अदि इन्द्रियों के विषयों की ओर से वापस लाया जाता है, इसी प्रकार जिस पक्षी के पंख कट गये हैं तो वह स्थिर हो जाता है, उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार नादरूपी बंधन में बंधा हुआ मन भी चंचलता छोड़कर

स्थिर हो जाता है। यही धारणा की अवस्था है क्योंकि शुभ अवलम्बन में चित्त को स्थिर करना होता है। जो साधक योग साधना में पूर्ण सफलता चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे सावधान चित्त अथवा एकाग्रचित्त से नादानुसंधान ही करें क्योंकि ब्रह्मरूप प्रतीति की निरन्तर सन्तति (परम्परा) बनायें रहना ही ध्यान है। जिस प्रकार रस्सी बांधती है उसी प्रकार नाद मन की चंचलता को बांध देता है, अर्थात् मन को स्थिर करता है और जिस प्रकार व्याघ्र वागुर (जाल) में फंसे हुए मृग को पकड़ ले जाता है, उसी प्रकार नाद भी चित्त को आत्मानुसंधान में लीन कर देता है। जैसे किसी अश्वशाला के द्वार पर लगा हुआ लौह दण्ड (परिध) अश्वशाला के अश्वों को बाहर निकालने से रोकता है, उसी प्रकार नाद भी योगी के अन्तर्मन को नियंत्रित रखता है। अतः योगी को प्रतिदिन चित्त की स्थिरता हेतु नाद उपासना अर्थात् नादानुसंधान अवश्य करना चाहिए। अनाहत नाद का श्रवण करने के बाद ही तत्काल मन रूपी सर्प, नाद प्रिय होने के कारण अपनी समस्त चंचलता भूलकर एकाग्र (नादाकार) वृत्ति में प्रवाहित होता हुआ अन्यत्र कहीं भी विषयान्तर में प्रवृत्त नहीं होता है। इस प्रकार मन के द्वारा कल्पना ही अर्थात् निर्विकल्प आत्मा का ग्रहण ही सम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है, और जैसे काष्ठ में जलती हुई अग्नि काष्ठ के जल जाने पर काष्ठ में ही शान्त हो जाती है, इसी प्रकार योगी का नाद में प्रवृत्त चित्त नाद में ही लीन हो जाता है, अर्थात् रजस् और तमस् वृत्तियों के नाद से सत्तामात्र या संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाता है, यही असम्प्रज्ञात समाधि कहलाता है।

3.4 हठ योग में ध्यान देने योग्य प्रमुख बातें

1. हठयोग में बन्ध, धौति आदि स्वास्थ्यवर्धनी क्रियाओं को करते समय हल्का व सुपाच्य भोजन ही लें।
2. आमाशय को रबर ट्यूब व आंतों को एनिमा से साफ करना लाभदायक है।
3. हठ योग साधक को हर हाल में ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।
4. सात्विक भोजन में गेहूं, मुंगदाल, दूध आदि अवश्य लेने चाहिए।
5. हठयोगी को राजसिक भोजन–मिर्च, तेल, खटाई, तले–भूने हुए पकवान, रूखा, कहवा आदि का पूर्णतया त्याग कर देना चाहिए।

6. हठयोग में आहार–विहार का ध्यान नहीं रखने पर स्वास्थ्य लाभ की अपेक्षा हानि हो सकती है।
7. वर्तमान में हठयोग के जानकार गुरु मिलना अत्यन्त दुर्लभ हैं। अतः हठयोग की साधना उपयुक्त गुरु मिले या अच्छे जानकार साधक की देखरेख में ही करना चाहिए।
8. हठयोग की साधना स्थूलशरीर से प्रारम्भ होने के कारण शारीरिक चमत्कार आदि के प्रति आकर्षण से साधक को सावधान रहना चाहिए।

3.5 निष्कर्ष

हठयोग साधक को चमत्कार आदि दिखाने के लिए जड़ समाधि से बचना चाहिए। इस प्रकार की समाधि केवल शारीरिक क्रिया–कलापों को रोकने मात्र तक ही सीमित है। इस प्रसंग के लिए एक बहुत प्रसिद्ध कथा है कि एक बाजीगर घोड़े का वचन पाकर किसी राज्य के राजा के सामने समाधि लगाकर बैठ गया। जड़ समाधि को भंग करने के लिए दूसरों की आवश्यकता रहती है जिसके अभाव से वह बाजीगर अपनी समाधि को भंग कर उठ न सका। अंत में राजा ने उसे एक गुफा में रखवा दिया। बहुत समय बाद वह गुफा जमीन में दब गई। बहुत समय बीतने के बाद उस राजा के उत्तराधिकारियों ने उस बाजीगर का प्रसंग सुनकर उस जगह को खुदवाया। खुदाई में वहां वह गुफा और उस गुफा में समाधिस्त वह बाजीगर भी मिला। किसी जानकार व्यक्ति ने उसकी समाधि को भंग करवाया। समाधि से सैंकड़ों वर्षों के बाद बाहर आकर भी इस बाजीगर ने छोड़े के लिए ही प्रार्थना की। कहने का तात्पर्य यह है कि वह समाधि को पाकर भी अज्ञान और घोड़े के लालच में वशीभूत रहा। मन और इन्द्रियों के संयम के अभाव में हठयोग से शक्ति के उर्ध्वारोहण से हानि हो सकती है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. हठ योग क्या है ?
2. हठ योग के प्रवर्तक कौन है?
3. हठ योग का सर्वप्रथम उपदेश किसको दिया गया?
4. नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक कौन थे?
5. प्राणायाम क्रिया के तीन रूप कौन से है ?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. निम्नलिखित में किसी दो पर टिप्पणी लिखिए– 1. सप्तसाधन, 2. प्राणायाम, 3. चार अवस्थाएं

3. निबंधात्मक प्रश्न–

1. नाद उपासना से क्या समझते हैं? नाद उपासना के विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डालिएं।
2. हठ योग की साधना में सावधानियों पर प्रकाश डालिए।

इकाई – 4

षट् कर्म का परिचय
(हठ योग प्रदीपिका के संदर्भ में)

रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 भूमिका

4.2 हठयोगप्रदीपिका में षट्कर्म

4.2.1 धौति कर्म

4.2.2. बस्तिकर्म

4.2.3 नेतिक्रिया

4.2.4 त्राटक कर्म

4.2.5. नौलि कर्म

4.2.6. कपालभाति कर्म

4.3 षट्कर्मों का उद्देश्य

4.4 निष्कर्ष

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत हठ योग प्रदीपिका के लेखक के बारे में पाठक जानकारी प्राप्त करेंगे तथा छः प्रकार के कर्म धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि, कपालभाति का भी ज्ञान प्राप्त करेंगे।

4.1 भूमिका

स्वात्माराम द्वारा रचित हठ योग प्रदीपिका में शरीर शुद्धि के लिए छः प्रकार के कर्मों पर प्रकाश डाला गया है। हठ योग साधना में षट् कर्मों का अधिक महत्व है। इससे शारीरिक और मानसिक शुद्धि होती है।

4.2 हठयोगप्रदीपिका में षट्कर्म–

षट्कर्म शब्द की उत्पत्ति षट् और कर्म इन दो शब्दों के मिलने से हुई है। षट् का अर्थ है छः और कर्म का अर्थ है क्रिया। इस प्रकार षट्कर्म का अर्थ हुआ छः क्रियाएँ। षट्कर्म का अर्थ छः विशेष कर्मों से है जिनके द्वारा शरीर का शुद्धिकरण होता है। हठयोग में इन छः प्रकार के शुद्धि कर्मों को षट्कर्म कहते हैं। षट्कर्म हठयोग साधना का अति विशिष्ट अंग है। षट्कर्मों का अभ्यास करने से न केवल शारीरिक शुद्धि ही बल्कि मानसिक शुद्धि भी होती है। षट्कर्म में शुद्धिकरण क्रियाएं शरीर को भीतर से स्वच्छ एवं साफ करने और योग साधक को उच्च योग क्रियाएं करने के लिए तैयार करने हेतु बनाई गई हैं।शारीरिक और मानसिक शुद्धि के फलस्वरूप हम आध्यात्मिक पथ पर आसानी से आगे बढ़ पाते हैं। षट्कर्मों का हमारे

जीवन में विशेष प्रयोजन है। जिनमें एक विशेष प्रयोजन यह भी है कि ये हमें विभिन्न प्रकार के रोगों से भी बचाते हैं।

हठप्रदीपिका में स्वामी स्वात्माराम योगी षट्कर्मों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं–

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।

कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते।। (हठप्रदीपिका–2/22)

धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि एवं कपालभाति ये छः षट् कर्म कहे गये हैं।

4.2.1 धौति कर्म–

हठ्योगप्रदीपिका के अनुसार धौति कर्म के लिए पन्द्रह हाथ लम्बा एवं चार अंगुल चौड़े वस्त्र को जल में अच्छे से भिगोकर गुरूनिर्देशन में साधक धीरे–धीरे मुख से पूरा वस्त्र निगलकर पुनः धीरे–धीरे बाहर निकालें। यही धौति कर्म की विधि है। वस्त्र नवीन तथा बारीक धागे से बना और गर्म जल में भिगोया हुआ होना चाहिये। प्रतिदिन दिन थोड़ा–थोड़ा वस्त्र को निगलते हुए पूरे वस्त्र को निगलने का अभ्यास करना चाहिये। जब वस्त्र उदर में ठहरने लग जाये तब उसका पेट के अन्दर नौली की तरह धीरे– धीरे चालन कर बाहर निकालना चाहिये।

धौति कर्म का परिणाम–

धौति क्रिया के फलस्वरूप खाँसी, दमा, तिल्ली, कुष्ठ तथा अपच बीसों प्रकार के कफ सम्बन्धी रोग निसन्देह नष्ट होते हैं। धौति क्रिया के अभ्यास से नाड़ियाँ जाग्रत होती है, जिससे कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में सहायता मिलती है। वस्ति कर्म का फल वस्ति कर्म का अभ्यास करने से बड़ी आँत की शुद्धि होती है तथा बड़ी आँत से सम्बन्धित रोग दूर होते हैं।

4.2.2. बस्तिकर्मः–

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार बस्ति कर्म के लिए साधक को नाभि (पेट का मध्यभाग) के स्तर तक जल में स्थित होकर (कनिष्ठिका अंगुली की मोटाई के बराबर प्रवेश योग्य) पोली (छेदवाली) बाँस की नली उत्कटासन में स्थित होकर गुदा प्रदेश में प्रवेश करवा कर गुदा को संकुचित करना चाहिये, जिससे जल उदर में प्रवेश कर सके। गुदा एवं उदर की सफाई की यह विधि बस्तिकर्म है।

बस्ति कर्म का परिणाम–

बस्ति क्रिया के अभ्यास के फलस्वरूप वायु गोला, तिल्ली, जलोदर, तथा वात, पित्त, कफ जन्य सभी दोष नष्ट हो जाते हैं। वस्ति क्रिया का अभ्यास वात दोष की विकृति को मुख्य रूप से दूर करता है, चूँकि वात दोष पित्त एवं कफ दोष पर भी प्रभावडालता है। अतः वात दोष के सम होने से पित्त एवं कफ दोष भी साम्यावस्था को प्राप्त होते है। बड़ी आँत से सम्बन्धित कब्ज, पेट गैस, पेट दर्द, अपच आदि रोगों में वस्ति कर्म का अभ्यास करने से लाभ प्राप्त होता है। वस्ति कर्म के अभ्यास से आँतों की क्रियाशीलता बढ़ती है, आँतों को बल मिलता है तथा उदर प्रदेश की गर्मी दूर होती है। उदर प्रदेश की गर्मी दूर होने से पाचन अंग सुव्यवस्थित रूप से अपना कार्य करते है। वात दोश की विकृति से उत्पन्न रोगों में वस्ति क्रिया का अभ्यास अत्यन्त लाभकारी फल देता है।

4.2.3 नेतिक्रियाः–

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार नेति क्रिया के लिए एक बीता (करीब 9 इंच का) सूत का सूत्र लेकर उसे अच्छे से चिकना कर नासिका में प्रवेश करवा कर मुखद्वारा बाहर निकालना चाहिये। इस क्रिया नेति–कर्म कहते हैं।

नेति कर्म का परिणाम

नेति क्रिया कपाल प्रदेश को शुद्ध करती है, दिव्य दृष्टि प्रदान करती है और स्कन्ध प्रदेश से ऊपर होने वाले रोग समूहों को शीघ्र नष्ट करती है। जलनेति क्रिया का अभ्यास मानसिक तनाव को दूर कर शान्ति प्रदान करता है। सूत्र नेति का अभ्यास करने से नासिका की अच्छी प्रकार सफाई होती है। इसके अभ्यास यहाँ स्थित संवेदनशील नाड़ियाँ उत्तेजित होती हैं, जिनके प्रभाव से सुनने की क्षमता, देखने की क्षमता, तथा सूंघने की क्षमता में वृद्धि होती है। आधुनिक समय में जब आँख, नाक एवं गले से सम्बन्धित रोग बहुत बढ़ रहे है, ऐसी अवस्था में जल नेति एवं सूत्र नेति का अभ्यास बहुत लाभकारी सिद्ध हो रहा है। नेत्र दृष्टि कम होना, बालों का झड़ना, बालों का सफेद होना, लम्बे समय तक जुकाम रहने की अवस्था में नेति कर्म का अभ्यास शीघ्र लाभ प्रदान करता है।

4.2.4 त्राटक कर्म–

स्थिर दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्य को एकाग्र होकर तब तक देखना चाहिए जब तक कि आंख से आंसू बाहर न आ जाए, आचार्यों ने इसे त्राटक कहा है।

विधि–किसी भी ध्यानात्मक आसन जैसे पद्मासन अथवा सिद्धासन आदि में बैठककर किसी भी ऐसी वस्तु जो आंखों से तीन–चार फुट की दूरी पर रखी हो, पर दृष्टि को एकाग्र करते हैं। वस्तु का चयन करते

समय ध्यान रखना चाहिए कि वह वस्तु मन में एकाग्रता बढ़ाने वाली एवं शांति प्रदान करने वाली होनी चाहिए। बहता हुआ जल, खिला हुआ फूल चन्द्रमा, जलते दीपक की लौ आदि पर दृष्टि की एकाग्रता बनाई जा सकती है। बिना पलक झपकाये हुए इन्हें तब तक देखना चाहिए, जब तक कि अश्रुपात न होने लगे। तत्पश्चात् आखें बंद कर उस वस्तु का ध्यान करना चाहिए।

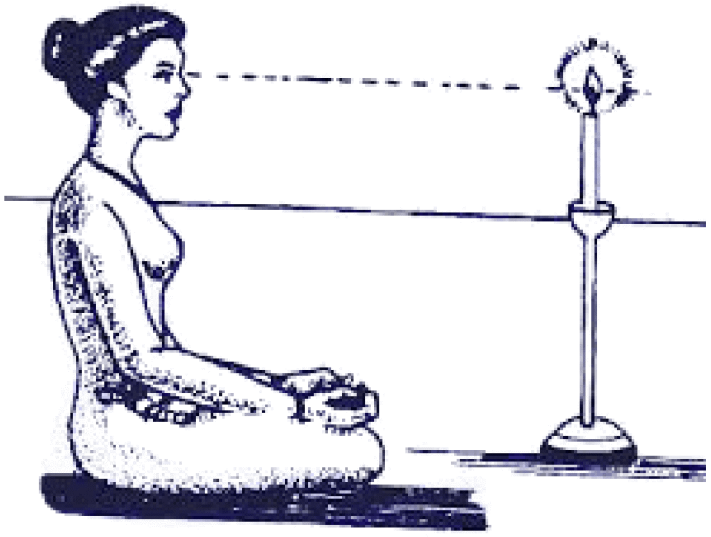

त्राटक कर्म का फल

त्राटक कर्म शरीर के साथ–साथ मन पर सकारात्मक प्रभाव डालता है। त्राटक के अभ्यास से मानसिक एकाग्रता में वृद्धि होती है तथा मानसिक तनाव के स्थान पर शान्ति की प्राप्ति होती है। त्राटक कर्म के फलों को हठप्रदीपिकाग्रन्थ के रचनाकार स्वात्माराम योगी इस प्रकार व्यक्त करते हैं–

त्राटक कर्म नेत्र रोगों को दूर करता है, निन्द्रा आदि को नहीं आने देता। इस त्राटक कर्म को सोने की पेटी के समान महत्व देकर इसकी रक्षा करनी चाहिए। त्राटक कर्म का नेत्र की मांसपेशियों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है तथा इसके अभ्यास से ये मांसपेशियाँ शक्तिशाली बनती है। त्राटक कर्म का अभ्यास मानसिक एकाग्रता को बढ़ाने वाला होता है। प्रायः उम्र बढ़ने के साथ–साथ स्मरण शक्ति कम होने लगती है ऐसी अवस्था में त्राटक क्रिया का अभ्यास करने से स्मरण शक्ति बढ़ती है, मन में तनाव एवं निराशा के स्थान पर नई विचार शक्ति का उदय होता हैं त्राटक का अभ्यास मानसिक ऊर्जा एवं उमंग को पैदा करता है। इसका अभ्यासी साधक सदैव प्रसन्नता एवं आनन्द का अनुभव करता है। त्राटक कर्म के अभ्यास से आज्ञा चक्र जाग्रत होता है, जिससे साधक को दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। इसी को ही अन्तर्दृष्टि की संज्ञा दी जाती है।

4.2.5. नौलि कर्म–

कन्धे को थोड़ा आगे की ओर झुकाकर तीव्र गति वाले भंवर के समान उदर को दाहिने से वाम एवं दक्षिण से दाएं घुमाना चाहिये। सिद्धों के द्वारा इसे ही नौलि कहा जाता है।

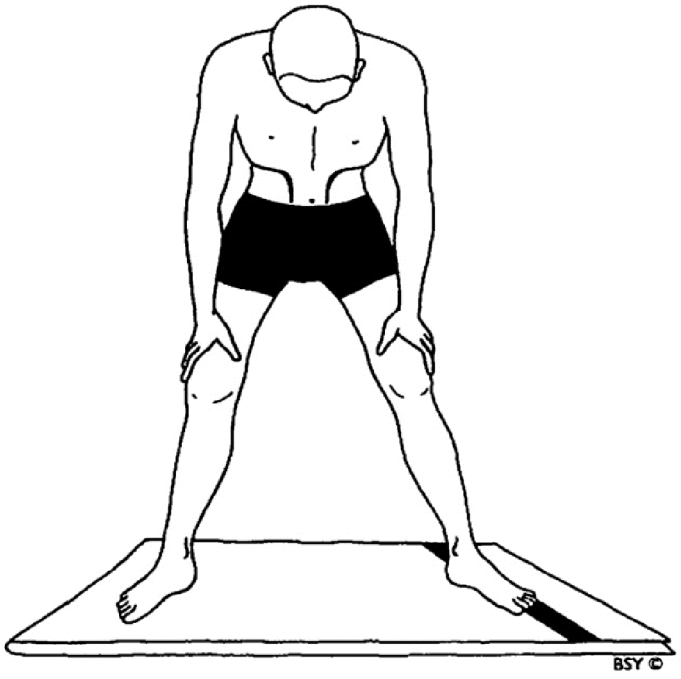

नौलि (लौलिकी) कर्म का परिणाम

लौलिकी कर्म का उदर की मांसपेशियों पर बहुत सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। लौलिकी कर्म के फलों पर प्रकाश डालते हुए हठप्रदीपिका ग्रन्थ के रचनाकार स्वात्माराम योगी उपदेश करते हैं–

सदा–सर्वदा आनन्द को लाने वाली यह नौलि–क्रिया मन्द जठराग्नि को प्रदीप्त कर पाचन क्रिया आदि को तेज करती है, विविध दोषों तथा रोगों को नष्ट करती है, इसीलिए यह हठ क्रियाओं में श्रेष्ठ है।

लौलिकी क्रिया का अभ्यास उदर की मांसपेशियों को सक्रिय करता है उदर में स्थित पेन्क्रियाज के स्राव को बढ़ाता है, जठराग्नि बढ़ाता है परिणाम स्वरूप भोजन का पाचन भलीभाँति होता है। इस क्रिया के अभ्यास से उदर में स्थित आँतों की क्रियाशीलता बढ़ती है। परिणाम स्वरूप कब्ज जैसे गम्भीर रोग दूर होते हैं। लौलिकी क्रिया का प्रभाव मस्तिष्क पर भी पड़ता है। तथा इससे शरीर के आन्तरिक अंग–अवयवों पर मस्तिष्कीय नियंत्रण बढ़ता हैं। इसके अत्यधिक लाभकारी फलों के कारण स्वात्माराम योगी लौलिकी क्रिया को हठ क्रियाओं में श्रेष्ठ क्रिया की संज्ञा देते है।

4.2.6. कपालभाति कर्म–

लौहकार की धौंकनी के समान शीघ्रता से रेचक पूरक करने से कपालभाति होती है। यह कफ रोगों को नष्ट करने वाली है।

कपालभाति कर्म का फल

कपालभाति कर्म शरीर की विजातीय द्रव्य को वायु एवं जल के द्वारा बाहर निकालता हुआ शरीर शोधन करता है। कपालभाति कर्म के सम्बन्ध में स्वात्माराम योगी लिखते हैं–

कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी।। (हठप्रदीपिका–2/35)

अर्थात् कपालभाति का अभ्यास कफ दोष से सम्बन्धी रोगों को नष्ट करती है। कपालभाति के अभ्यास का फल शरीर के विजातीय द्रव्यों के निष्कासन के रूप में प्राप्त होता है। शरीर से विजातीय तत्व निकलने पर शरीर की कान्ति एवं आभा बढ़ती है, व्याधि, जरा आदि अवस्थाओं के लक्षण अभ्यासी साधक के शरीर में नहीं आते है। कपालभाति के अभ्यास से साधक का शरीर स्वच्छ, निर्मल एवं रोग रहित हो जाता है। मनुष्य के शरीर से विजातीय द्रव्य निकल जाने पर शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता एवं जीवनी शक्ति का विकास होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शरीर का शोधन करने वाली षट्कर्म की क्रियाएँ हमारे लिए बहुत उपयोगी और महत्वपूर्ण फल प्रदान करने वाली होती हैं। इन क्रियाओं का अभ्यास करने से शरीर एवं मन में स्वच्छता एवं निर्मलता का विस्तार होता है। इन षट्कर्मो में प्रथम कर्म धौति क्रिया सम्पूर्ण पाचन तंत्र का शोधन करतीहै। वस्ति कर्म बड़ी आँत को शुद्ध बनाती है। नेति कर्म का सम्बन्ध शीर्ष प्रदेश से है, यह अभ्यास नासिका एवं इन्द्रियों में स्वच्छता उत्पन्न करता है। लौलिकी कर्म उदर की मांसपेशियों को उत्तेजित एवं सक्रिय करता हुआ मणिपुर चक्र को जाग्रत करने में सहायता करता है। त्राटक कर्म का सम्बन्ध नेत्र की मांसपेशियों से है यह अभ्यास मानसिक एकाग्रता को उत्पन्न करता है। कपालभाति कर्म शरीर से विजातीय द्रव्य एवं विजातीय पदार्थो को वायु एवं जल के द्वारा बाहर निकालता है। इस क्रिया के अभ्यास से शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता एवं जीवनी शक्ति का विकास होता है। षट्कर्म की क्रियाएँ शरीर शोधन के उद्देश्य से की जाती है तथा अत्यन्त लाभकारी फल प्रदान करती है। ऋषिप्रोक्त इन षट्कर्मो का उद्देश्य शरीर शोधन के साथ–साथ मन की दृढ़ इच्छाशक्ति एवं शरीरस्थ चक्र जागरण करना होता है। इन षट्कर्मो का उपदेश ऋषियों द्वारा जन–कल्याण के लिए किया गया है।

हठप्रदीपिका नामक ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक वर्गीकृत करते हुए समझाया गया है। प्रथम कर्म के रूप में धौतिकर्म का वर्णन किया गया है, यह कर्म वायु, जल एवं वस्त्र द्वारा उदर प्रदेश का शोधन करता है। द्वितीय कर्म के रूप में वस्ति कर्म बड़ी आँत को स्वच्छ बनाता है। षट्कर्म की तीसरी क्रिया के रूप में नेति कर्म का उल्लेख किया गया है। षट्कर्म की चौथी क्रिया के रूप में वर्णित नौलि कर्म जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। त्राटक कर्म षट्कर्म की पांचवी क्रिया है जिसका अभ्यास मानसिक एकाग्रता उत्पन्न करता है तथा षट्कर्म की छठी क्रिया के रूप में कपालभाति कर्म का वर्णन किया गया है, यह कर्म वायु एवं जल के द्वारा शरीर शोधन का कार्य करता है।

4.3 षट्कर्मों का उद्देश्य–

षट्कर्म के अन्तर्गत धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौली, एवं कपालभाति नामक छः क्रियाओं का वर्णन आता है। ये क्रियाएं मानव शरीर का शोधन करती हुई कायाकल्प करती है। आज के समय में प्रदूषण चारों ओर विकराल रूप में फैला है जिसके चलते मानव शरीर में विजातीय द्रव्य एकत्र हो रहे है तथा वात, पित्त, कफ दोष में विषमताएं उत्पन्न हो रही है जो आगे चलकर रोग का कारण बनते है। षट्कर्म हमारे शरीर को मलों के कुप्रभाव से बचने में सक्षम बनाता है तथा इन क्रियाओं का अभ्यास करने से शरीर में एकत्र विजातीय द्रव्य बाहर निकलते है, शरीर शुद्ध एवं निरोग बनता है तथा वात–पित्त, कफ दोष सम अवस्था को प्राप्त होते हैं। वात–पित्त व कफ दोष की विषमता से उत्पन्न होने वाले रोगों से शरीर बचा रहता हैं शरीर के साथ–साथ ये षट्कर्म मानसिक स्तर पर भी स्वस्थ बनाते हैं।

स्वामी स्वात्माराम योगी हठप्रदीपिका में लिखते है– जिसके शरीर में मेद एवं श्लेष्मा की अधिकता हो उसे पहले षट्कर्म के द्वारा शरीर का शोधन करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि शरीर के मेद एवं श्लेष्मा की अधिकता को दूर करना एवं शरीर का शोधन करना ही षट्कर्मो का मुख्य उद्देश्य है। मेद की अधिकता शरीर में भारीपन एवं जड़ता उत्पन्न करती है जबकि इस मेद की सन्तुलित अवस्था शरीर में हल्कापन एवं निरोगिता उत्पन्न करने के साथ साथ शरीर को बलवान बनाती है। शरीर में श्लेश्मा की अधिकता कफ दोष को असन्तुलित करती है तथा कफ विकार उत्पन्न करती है।

4.4 निष्कर्ष

षट्कर्मो का उद्देश्य शरीरस्थ मेद एवं श्लेष्मा की अधिकता को दूर कर शरीर को शुद्ध, स्वच्छ एवं समदोश युक्त बनाना होता है। इससे शरीर का शोधन होने के साथ मानसिक स्थिरता एवं एकाग्रता की प्राप्ति होती है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. हठ योग प्रदीपिका के लेखक कौन है ?
2. षट् कर्मों के नाम लिखिए।
3. षट् कर्म क्यों जरूरी है?
4. त्राटक कर्म क्या है ?
5. त्राटक कर्म के अभ्यास से कौनसा चक्र जागृत होता है?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. किन्हीं दो पर टिप्पणी लिखिए– 1. नौलिकर्म, कपालभाति कर्म, बस्ति कर्म

3. निबंधात्मक प्रश्न–

1. षट्कर्मों के बारे में बताते हुए उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

इकाई – 5

आसन, प्राणायाम, बंध और मुद्रा का परिचय

(हठ योग प्रदीपिका के संदर्भ में)

रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 भूमिका

5.2 हठप्रदीपिका में आसन–

5.2.1 स्वस्तिकासन–

5.2.2. गोमुखासन–

5.2.3. वीरासना–

5.2.4. कूर्मासन–

5.2.5. कुक्कुटासन–

5.2.6. उत्तानकूर्मासन

5.2.7. धनुरासन

5.2.8. मत्स्येन्द्रासन

5.2.9. पश्चिमोतानासन

5.2.10. मयूरासन

5.2.11. शवासन

5.2.12. सिद्धासन

5.2.13. पद्मासन

5.2.14. सिंहासन

5.2.15. भद्रासन

5.3 हठयोग प्रदीपिका में प्राणायाम

5.3.1. सूर्यभेदन कुंभक

5.3.2. उज्जायी कुंभक

5.3.3. सीत्कारी कुंभक

5.3.4. शीतली कुंभक

5.3.5. भस्त्रिका कुंभक

5.3.6. भ्रामरी कुम्भक

5.3.7. मूर्च्छा कुम्भक

5.3.8. प्लाविनी कुम्भक

5.4 हठयोग प्रदीपिका में बन्ध एवं मुद्रा

5.4.1. मूलबन्ध

5.4.2. उड्डीयान बन्ध

5.4.3 जालन्धर बन्ध

5.4.4. महामुद्रा

5.4.5. महाबन्ध

5.4.6. महावेध मुद्रा–

5.4.7. खेचरी मुद्रा

5.4.8. विपरीतकरणी मुद्रा

5.4.9. वज्रोली मुद्रा

5.4.10. शक्तिचालनी मुद्रा

5.5 निष्कर्ष

5.0 उद्देश्य

इस इकाई में पाठक हठ योग प्रदीपिका के अनुसार आसन, प्राणायाम, बंध और मुद्राओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

5.1 भूमिका

शरीर पर नियंत्रण करने के लिए नियमित रूप से आसनों का अभ्यास किया जाना चाहिए। नियमित प्राणायाम करने से श्वास पर नियंत्रण होता है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बंध और मुद्राओं का भी अभ्यास आवश्यक है।

5.2 हठप्रदीपिका में आसन–

आसन शब्द संस्कृत भाषा की 'अस्' धातु से निष्पन्न होता है। आसन शब्द के अनेक अर्थ किए हैं– जैसे बैठना अथवा शरीर के अंगों की एक विशेष स्थिति की अवस्था आसन कहलाती है। हठप्रदीपिका में 15 आसनों का उपदेश दिया गया है।

5.2.1 स्वस्तिकासन–

विधि–इस आसन के लिए सर्वप्रथम भूमि पर बैठकर अपने दोनो पैरों को सामने फैलाएं। अपने दायें पैर के अँगूठे, अँगुलियों और तलवे को बायें पैर की पिण्डली और जंघा के मध्य स्थापित करें। इसी प्रकार दूसरे पैर को स्थापित करें।

लाभ–यह ध्यान के लिए उपयुक्त और सुखकारक आसन है। इसके अभ्यास से मन स्थिर होता है और प्राणायाम की सिद्धि प्राप्त होती है। मेरूदण्ड के लिए लाभदायक है। वीर्य उर्ध्वारोहण होने से ब्रह्मचर्य की शक्ति बढ़ती है।

सावधानीयां–कमर के निचले हिस्से में पीड़ा या दर्द होने पर इस आसन को नहीं करना चाहिये। साइटिका दर्द में भी इस आसन का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

5.2.2. गोमुखासन–

इस आसन में कमर के बायें तथा दाहिने ओर टखने को रखने से दोनों घुटने एक दूसरे ऊपर हो जाते है। इस स्थिति में दोनों घुटनों की आकृति गोमुख के समान बनती है इस कारण इसे गोमुखासन कहते है।

विधिः–इस आसन के लिए दोनों पैरों को फैलाकर बैठ जाएं। बायें पैर की एड़ी को दाहिने नितम्ब के नीचे रखें। अब दाहिने पैर की एड़ी को बायें नितम्ब के नीचे रखने पर बायें घुटने के उपर दाहिना घुटना आ जाता है। अब दाहिने हाथ को मोड़कर दायें कान के पास हथेली को पीठ की ओर लाते है। बायें हाथ को मोड़कर कोहनी को नीचे पीठ से सटाते हुऐ, दाहिने हाथ की अंगुलियों को पकड़कर बान्ध लें। कमर, मेरूदंड, गर्दन एवं सिर को सीधा में रखें। इसी क्रिया को दूसरी ओर से दोहराते है।

लाभः—यह आसन मन को एकाग्र करने में सहायक है। त्राटक के लिए उपयुक्त आसन है। स्नायु तंत्र शक्तिशाली बनता है। मधुमेह पेट एवं आँतों के विकार, हाइड्रसिल (अण्डकोश का बढ़ना), वात रोगों के शमन में, हर्निया, अपच, किडनी (गुर्दे या वृक्क) के रोग, रक्तचाप, दमा आदि विकार दूर होते हैं। वीर्य के दोष दूर होते है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है। स्त्रियों के मासिक धर्म सम्बन्धी विकारों में उययोगी है।

5.2.3. वीरासना—

वीरों के समान चलने और बैठने की स्थिति होने के कारण इसे वीरासन कहते है। इस आसन में एक पैर बायीं जाँघ पर और दूसरा पैर दायीं जाँघ पर रख कर बैठना ही वीरासन कहा जाता है।

विधिः—वज्रासन की स्थिति में बैठें। दाहिने घुटने को ऊपर उठाकर दायें पैर को बायें घुटने के भीतरी भाग के पास जमीन पर रखते है। दायीं कोहनी को दायें घुटने पर रखते हैं तथा ठुड्डी को दायीं हथेली के ऊपर रखतें है। आँखें बंद कर विश्राम करते हैं। शरीर पूरी तरह गतिहीन रहे। रीढ़ एवं सिर सीधे रहते है। फिर बायें पैर को दाहिने घुटने के पास रखकर इस अभ्यास को दोहराते हैं।

श्वास—यह कल्पना करते हुये कि श्वास भूमध्य से अन्दर बाहर आ—जा रहीं है, धीमा, गहरा श्वसन करें।

लाभः—जिन लोगों को ध्यान के आसन में बैठने में कठिनाई होती है वे इस अवस्था में ध्यान का अभ्यास कर सकते है। जब तक पैर पर बैठे—बैठे थक जायें तब पैर को बदल लें। शरीर को एक आरामदायक स्थिति में लाने के लिए और उसमें एकाग्रता का अभ्यास करने, पढ़ाई करने एवं मन को केन्द्रित करने के लिए उपयोगी आसन है। जो लोग वज्रासन नहीं कर पाते, जिनकी जाँघ की मांसपेशियाँ कड़ी है या एड़ी अथवा घुटनों में दर्द होता है। वे इस आसन को कर सकते हैं। स्नायविक विकार के लिए भी यह उपयोगी है।

5.2.4. कूर्मासन—

इस आसन को लगाने पर शरीर की आकृति कूर्म या कछुए के समान बन जाती है इसलिए इसे कूर्म या कच्छपासन कहते है।

विधि—सर्वप्रथम दोनों पैरो को सामने फैलाकर बैठें। कमर को सीधा रखते हुए सामने की ओर झुकें। दोनों हाथों को घुटनों के नीचे ले जाकर हाथों को फैलाते हुए हथेलियों को जमीन पर स्थपित करें। मस्तक को जमीन पर लगायें। दोनों हाथों को पैरों के नीचे से ले जाकर कमर के पीछे फाँस (हुक) आकृति में पकड़ लेते है।

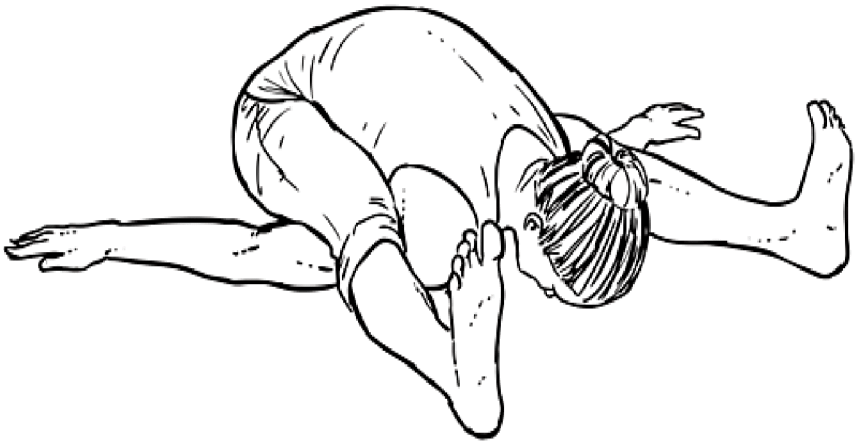

लाभ–हार्निया, पैक्रियांज, पैरों के पंजे, घुटने, टांसिल, हकलाने, तुतलाने, कोहनी, थायराइड तथा पैराथाइराइड, जंघामूल, नाभि देश, मेरूदंड, ग्रीवा मस्तक कोहनी और हाथों की अंगुलियों पर, वक्षस्थल पर, फेफड़ों पर, गुदा पर, बवासीर और भगन्दर, मधुमेह तथा क्षयरोग में विशेष लाभकारी है। यह शीत नाशक एवं उष्मावर्धक आसन है। इस आसन के साथ मूलबन्ध का प्रयोग अत्यन्त लाभकारी है। इससे मेरूदंड लचीला बनता है। यकृत, आमाशय, ग्रहणी, श्रुद्रान्त, वृतदंत्र, क्लोमादि के रोगों में लाभकारी है। रजोविकार, प्रमेह अण्डकोषवृद्धि का रोगशमक है। स्नायुमंडल को स्वस्थ मन को एकाग्र, अर्न्तमुखी तथा कुण्डलिनी जागरण में सहायक आसन है।

सावधानियाँ–हड्डियों के दीर्घकालीन दर्द में वर्जित है। मेरूदण्ड के रोग जैसे– स्लिप डिस्क, साइटिका, स्पोडेलाइटिस, के रोगों में यह आसन वर्जित है।

5.2.5. कुक्कुटासन–

इस आसन में शरीर की आकृति कुक्कुट (मुर्गे) के समान दिखाई पड़ती है। इस कारण इसे कुक्कुटाआसन कहते है।

विधि–सर्वप्रथम पद्यमासन की स्थिति में आएं। दाहिने हाथ को दहिने पैर के घुटने और पिंडली के मध्य में कोहनी तक ले जायें, इसी प्रकार दायें हाथ को बायें पैर के घुटने और पिंडली के बीच में ले जाकर दोनों हाथों के पंजों को जमीन पर टिकाकर हाथों के ऊपर शरीर को ऊपर उठाते हुए संतुलिन स्थपित करें। पद्यमासन में पैर बदल कर भी इसका अभ्यास किया जा सकता है।

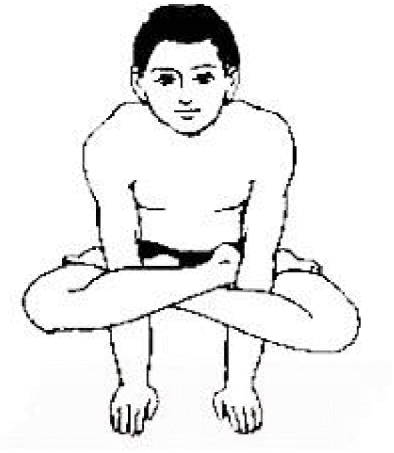

लाभ–पेट में कृमि (कीड़े) की शिकायत वालों हेतु बहुत लाभकारी है। नाड़ी शुद्धि में लाभदायक है। वीर्य का ऊर्ध्वारोहण होता है। जठराग्नि तीव्र होकर भूख बढ़ती है। थकान मिटती है। हाथों कंधों और सीने को पुष्ट एवं स्वस्थ्य बनाता है। पेट के विकार यौनग्रन्थि, शुक्राशय और शुक्रवाहिनियां भी सक्रिय होती हैं। उनके अवरोध दूर होते है। स्वप्न दोष, शीघ्रपतन प्रमेह, धातुदौर्बल्य और नपुंसकतादि रोग दूर होते हैं।

5.2.6. उत्तानकूर्मासन

कूर्मासन की ही एक स्थिति जो उतान अवस्था में होने से इसे उत्तानकूर्मासन कहते है।

विधि–कुक्कुटासन की तरह दोनों हाथों को दोनों पैरों की जंघा एवं पिण्डलियों के मध्य से निकाल लेते है। दोनों निकले हुऐ हाथों को मोड़कर ग्रीवा के पीछे फांस (हुक) कर पकड़ लेते है। इस अवस्था में पूरा सन्तुलन कूल्हों पर होता है।

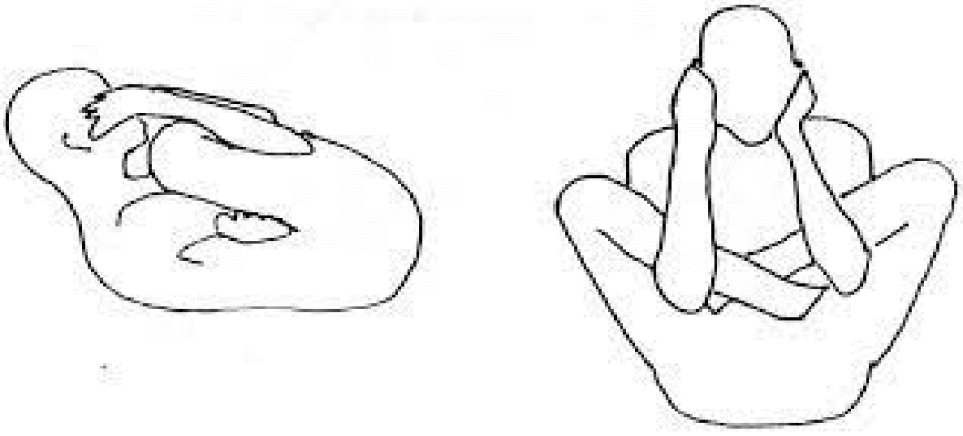

लाभ–इसके अभ्यास से पक्वाशय, प्लीहा, गर्भाशय, वृक्क, क्लोम, वस्तिगुहा,

मूत्राशय, शुक्राशय, ग्रहणी,आदि अंग सक्रिय होते है। हार्निया, गैस, उदर वायु, गुल्फ, कब्ज, आदि में लाभदाक है।इससे गर्भाशय पुष्ट होता है। मासिक स्त्राव की अनियमितता दूर होती है।

5.2.7. धनुरासन

इस आसन में शरीरा की आकृति धनुष के समान होने से इसे धनुरासन कहते है।

विधि–सर्वप्रथम पेट के बल लेट जायें। लेटकर दोनों हाथों से दोनों पैरों को मोड़कर टखनों पर दोनों पैरों को पकड़ना चाहिये। श्वास भरते हुऐ, छाती, और जांघ को पृथ्वी से ऊपर सम्भव हो उठायें। इस अवस्था में पूरा शरीर नाभि के ऊपर संतुलित हो जाता है। श्वास छोड़ते हुऐ धीरे–धीरे पूर्व स्थिति में आ जाते है।

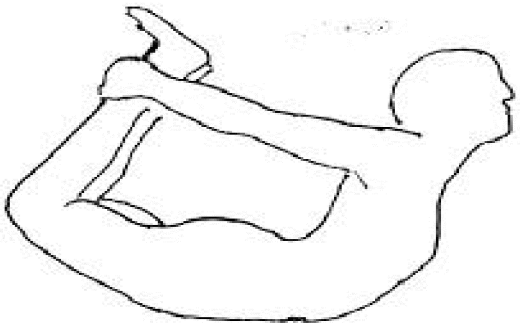

समयः–आधे मिनट से लेकर तीन मिनट तक अभ्यास को बढाएं

लाभ–मोटापा कम होता है। सीना मजबूत होता है। धरण ठीक होती है। पाचन क्रिया ठीक होती है। स्त्रियों के गर्भाशय और जरायु के संपोषण तथा विकास में सहायक है। सभी आयु वर्ग हेतु हितकारी आसन है। चिरस्थायी यौवन, एवं बुढ़ापा नहीं आता है।

सावधानीः–हृदय की धड़कन, रक्तचाप एंव हर्निया के रोगियों को ये आसन नहीं करना चाहिए।

5.2.8. मत्स्येन्द्रासन

विधि–बायी जाँघ के मूल में दहिने पैर को रखकर बायें पैर को जानू से बाहर ले जाकर रखते है। हाथ को घुटने के ऊपर से लपेटते हुए अंगूठे को पकड़ कर नीचे वाले पैर के विपरीत और कमर से ऊपर के सम्पूर्ण भाग को मरोड़ते है। इस आसन को दोनों पैरों से बदल–बदल कर करना चाहिये।

लाभ–मधुमेह (डाईबिटिज) का निवारण होता है। पेट की चर्बी कम होती है। कटिभाग एवं मेरुदण्ड लचीला होता है। ग्रंथियों के स्राव संतुलित होते हैं। कमर रोग एवं वात दर्द को दूर करता है। मेरूदंड को लचीला बनाता है।

सावधानीः–स्लिप–डिस्क की बीमारी में इस आसन को न करें।

5.2.9. पश्चिमोतानासन

विधि–दोनों पैरों को आगे की ओर फैलाएं। श्वास भरते हुए दोनों हाथों को ऊपर की ओर ले जाएं। श्वास छोड़ते हुए आगे की ओर झुके हाथों से पैर का पंजा पकड़ें। नाक को घुटनों से लगाएं। श्वास भरते हुए दोनों हाथों को ऊपर की ओर ले जाएं। श्वास छोड़ते हुए हाथों को नीचे लाएं। पूर्व स्थिति में आ जाएं।

लाभ– पैरों की शक्ति बढ़ती है। मधुमेह के लिए लाभप्रद है। पाचन तंत्र पुष्ट होता है। मेरुदण्ड लचीला होता है। स्वप्न दोष दूर होते हैं। मूत्राशय, पेट, के रोग दूर होते हैं। कुण्डलिनी शक्ति विकास हेतु इसका अभ्यास महत्वपूर्ण है। प्राणवायु को पश्चिमदाहिनी (सुषुम्ना में स्थापित) कर देता है।

सावधानीः–स्लिप–डिस्क की बीमारी में इस आसन को न करें।

5.2.10. मयूरासन

इस आसन को लगाने पर शरीर की आकृति मयूर के समान दिखाई देती है इस कारण इसे मयूरासन कहते है।

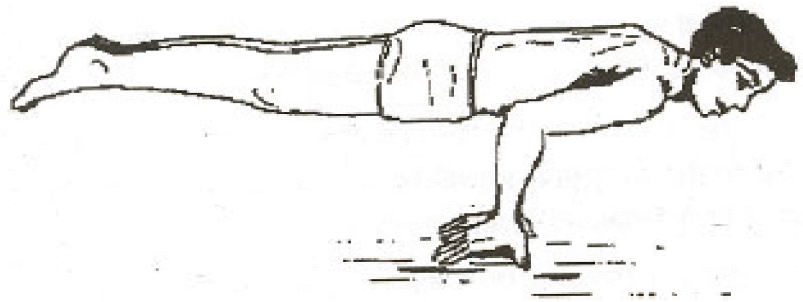

विधि–भूमि पर घुटने टेक कर बैठें एवं हथेलियों को भूमि पर टिकाएं। हाथ की अंगुलियां पैरों की ओर रहेगी। श्वास भरें। कोहनियों को मोड़कर कोहनियों को नाभि के ऊपर के भाग पर टिकाएं। श्वास का रेचन करते हुए मुख एवं कन्धों को संतुलन बनाते हुए धीरे–धीरे आगे की ओर बढ़ाएं। पैर अपने आप ऊपर की ओर उठने लगेगें, पैरों को पीछे की ओर सीधा कर लें। शरीर हाथों पर स्थिर हो जायेगा। धीरे–धीरे पैरों को मोड़ते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएं।

लाभ–चेहरे की कांती एवं सौन्दर्य बढ़ता है। मस्तिष्क की कार्य शक्ति बढ़ती है। शरीर से विष का शमन होता है। सीना, पैर एवं पेट की कार्यक्षमता का विकास होता है। उदरशूल, जलोदर, प्लीहा आदि तथा कफ, वात, पित्त, (त्रिदोष) के विकृत होने से उत्पन्न दोष दूर करता है। जठराग्नि इतनी तीव्र हो जाती है कि जहरीला पदार्थ भी पच (भस्म) जाता है। मस्तिष्क की नाड़ियों पर प्रभावडालता है तनाव दूर करता है। तथा शारीरिक सन्तुलन की क्षमता बढ़ाता है। आध्यात्मिक लाभ हेतु श्रेष्ठ आसन है सभी योग के ग्रंथों में इसका संदर्भ प्राप्त होता है।

सावधानीः–गर्भवती महिलाएं इस आसन को न करें। पेट का ऑपरेशन, उच्च रक्तचाप एवं अल्सर वाले व्यक्ति भी इस आसन को न करें।

5.2.11. शवासन

विधि–पीठ के बल चित्त लेटकर शरीर अंगों को शिथिल छोड़ देते हैं। किसी भी अंग में तनाव नही होता तथा शरीर सीधा रहता है। शरीर के एक–एक अंग को ढीला छोड़ते जाते है। शरीर की मांसपेशियों को शिथिल अनुभव करते हुए ढीला छोड़ते जाते है। विचार शून्य आंखें, स्थिर तथा धीमा श्वसन करते है।

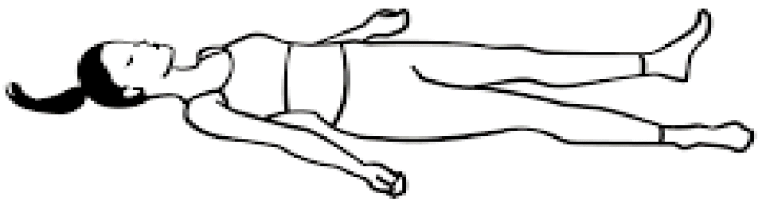

लाभ– श्वासन का अभ्यास सभी आसनों के बाद करने से उन आसनों से उत्पन्न थकान दूर होती है। उत्साह, कार्यशक्ति विकास, ऊर्जा का संचय नवजीवन प्राप्त होता है। तनाव तथा तनाव जनित रोग दूर होते है। जैसे– उच्च रक्तचाप, ह्दय रोग, मधुमेह, अनिद्रा इत्यादि। आमवात, पीठ की अकड़न, पीठ और कमर के दर्द को दूर करने हेतु सबसे सरल सहज आसन है।

5.2.12. सिद्धासन

विधि–यह आसन साधना की सिद्धि को सहजता प्रदान करता है इसलिए सिद्धासन कहलाता है। आसनों में सर्वश्रेष्ठ आसन सिद्धासन को माना गया है। आसन पर सुखपूर्वक बैठें। पूरे आसन काल में श्वास–प्रश्वास मंद एवं दीर्घ रखें। बाएं पैर की एड़ी को गुदा एंव मूत्रेन्द्रिय के मध्य स्थापित करें। दाएं पांव को उठाकर बाएं पैर के ऊपर टखने पर टिकाएं। मेरूदण्ड एवं गर्दन को सीधा रखें। हाथ ज्ञान मुद्रा या वीतराग मुद्रा की स्थिति में। अब दाएं पावं को सीधा करें। फिर बाएं पांव को सीधा करें।

लाभ–नाड़ी तंत्र के दोष दूर होते है। वीर्य की शुद्धि से चित्त की निर्मलता बढ़ती है। मेधा शक्ति विकसित होती है। गोनाड्स ग्रन्थि को विशेष रूप से प्रभावित करने से शक्ति का उर्ध्वारोहण होता है। इसे मोक्ष मार्ग के कपाट (द्वार) खोलने वाला आसन कहा गया है। यह आसन शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाने में सहायक महत्वपूर्ण सरल आसन है।सीवनी नाड़ी पर दबाब पड़ने से कामवासना शांत होती हैं तथा ब्रम्हचर्य बना रहता है। स्नायु संस्थान को शान्त स्थिर और सशक्त बनाता है तथा प्राण और मन पर संयम रखता है। इस आसन से गोनाड्स ग्रन्थि प्रभावित होती है। जिससे काम वासनाओं पर विजय प्राप्त होती है एवं ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण होता है एवं सुषुम्ना में प्राण का संचार होने लगता है। जिससे वीर्य की शक्ति ओज में परिणित होती है। मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्रों के जागरण में अत्यंत महत्वपूर्ण आसन है।

सावधानियाँ– सिद्धासन से ऊष्मा बढ़ती है। कई बार पेशाब के साथ रक्त भी आने लगता है। अतः उचित आहार–विहार व योग्य गुरु के सानिध्य में अभ्यास को बढ़ाएं। यह आसन स्त्रियों के लिए विर्जित है। साइटिका और रीढ़ के नीचे के विकारों से ग्रस्त व्यक्ति को यह आसन वर्जित है।

5.2.13. पद्मासन

इस आसन को लगाने के बाद साधक की शरीर स्थिति पद्य अर्थात कमल के पुष्प के समान दिखाई देने से इसे पद्यासन कहा जाता है।

विधि–सर्वप्रथम दोनों पैंरों को फैलाकर बैठ जाते है, मेरूदण्ड सीधा रखते है। श्वास भरते हुए दायें पैर को बायें पैर की साथल पर रखें। श्वास छोड़ते हुए बायें पैर को दायें पैर की साथल पर रखें। श्वास भरते हुए कमर व गर्दन सीधी करें। हाथ ज्ञान मुद्रा में रखें। श्वास सामान्य रहे।

लाभ–शक्ति का विकास होता है। मन की एकाग्रता बढ़ती है। मेद्या शक्ति बढ़ती है। ज्ञान तंतु सक्रिय होता है। यह आसन प्राणशक्ति को मूलाधार चक्र (गुदा एवं जाननेन्द्रिय के मध्य) से सहस्त्रारचक (सिर के ऊपरी भाग में) तक उचित रूप से प्रवाहित करता है। कुण्डलिनी जागरण में सहायक

है। पद्मासन गोनाड्स एवं एड्रिनल ग्रन्थियों को प्रभावित करता है। जिससे काम वासनाओं पर विजय प्राप्त होती है। मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र जागृत होते है।

5.2.14. सिंहासन

विधि–घुटने के बल पंजों पर बैठे, घुटनों के मध्य दोनों हथेलियों को स्थापित करें। श्वास भरकर जीभ को बाहर निकालें। गर्दन को ऊंचा करके दृष्टि को बाहर रखकर शेर की तरह दहाड़ें। जीभ अन्दर कर श्वास भरे, मूल स्थिति में आ जायें।

लाभ–टान्सिल गले के दोष दूर होते हैं। आंख, मुख के दोष दूर होते हैं। उच्चारण शुद्ध एवं चेहरा सुन्दर होता है। शरीर सक्रिय एवं सीना शक्तिशाली होता है। इस आसन से थायराइड एवं पैराथाइराड की कार्य क्षमता में वृद्धि होती है गले के नाक, कान के और मुंह के रोगों का शमन होता है। हकलाकर बोलने वालों के लिए एक श्रेष्ठ आसन है। मन एकाग्र होता है भूख लगती है, पेट सम्बन्धी, वायुविकार नष्ट होते हैं।

सावधानियाँ– इस आसन को सूर्य की ओर मुंह करके करना चाहिये। दोनों भुजाओं को सीधे रख थोड़ा आगे झुका रहना चाहिये। सिर पीछे की ओर उठाये रखकर ऊपर की ओर देखना चाहिये।

5.2.15. भद्रासन

इस आसन में शरीर की स्थिति भद्र पुरूष के समान दिखाई देती है इस कारण इसे भद्रासन कहते हैं।

विधिः–दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठ जाते है। घुटनो को मोड़कर, तलवों को मिलाकर एड़ियों को ऊपर उठा देतें है। घुटने और पैर के पंजे जमीन पर रहते है। इसमें श्रेणि प्रदेश, नितम्ब और प्रजननेन्द्रियाँ एड़ी के पीछे रहती है। दोनों हाथों से दोनों एड़ीयों को पकड़ें। मेरूदण्ड को सीधा रखते हुए सामने की ओर देखते हैं। इस अवस्था में जालन्धर बन्ध एवं नासिकाग्र दृश्टि का अभ्यास भी करते है। सामान्य श्वास लेते हुए जितनी देर तक आराम से बैठ सकते हैं, उतनी देर बैठियें।

लाभः–इस आसन से अभ्यास से प्रजनन इन्द्रियों, काम वासना और वीर्य स्खलन पर नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है।यह पैरे को बहुत अधिक लचीला बना देता हैं।यह आसन अपान के प्रवाह को उर्ध्वगामी बनाकर ध्यान की अवस्था लाने में सहायक होता है।इसमें मन तुरन्त एकाग्र होता हैं क्योंकि शरीर की अवस्था इस प्रकार की हो जाती है कि मन भटकता ही नहीं। गले के संकुचन की क्रिया से अनेक रोगों का नाश होता है। मिताहार एवं नियमित दिनचर्या से 1 वर्ष में आसन सिद्ध हो जाता है।

5.3 हठयोग प्रदीपिका में प्राणायाम

हठयोग प्रदीपिका में आठ प्रकार के कुंभक (प्राणायाम) को वर्गीकृत किया गया है।

प्राणायाम का अभ्यास करते समय पूरक (वायु को भीतर खींचने के बाद) के पूर्ण होने पर जालन्धर बन्ध और कुंभक (वायु को बाहर निकालते समय) के अन्त में रेचक के पूर्व उड्डियान बन्ध लगाना चाहिये।

5.3.1. सूर्यभेदन कुंभक

विधि–केवल सूर्य स्वर से श्वास को ग्रहण करते हैं, अतः इसे सूर्यभेदी प्राणायाम कहा गया है। सबसे पहले सुखासन या पद्मासन में बैठकर धीरे–धीरे दाहिने नासारन्ध्र से बाहर स्थित वायु को भीतर खींचकर सम्पूर्ण शरीर में यथा शक्ति सुखपूर्वक धारण करना चाहिये तथा इस दौरान विधि अनुरूप बन्धों जालन्धरबंध का प्रयोग करते हुऐ बायें नासारन्ध्र से धीरे–धीरे रेचक (बाहर निकालना) करना चाहियें। यही सूर्यभेदन कुंभक कहलाता है।

लाभ–वात कफ का शमन करता है। पित्त बढ़ाता है। पाचन–शक्ति बढ़ाता है। आलस्य को शरीर से दूर रखता है।

सावधानियां–ग्रीष्मकाल में सूर्यभेदी नहीं करें। सूर्यभेदी प्राणायाम गर्मी बढ़ाता है। कफ और वायु प्रकृति वाले अपने कफ और वायु की उपशांति की दृष्टि से इसका प्रयोग करते हो लेकिन अति उष्ण तथा पित्त प्रकृति वाले इसका प्रयोग विवेकपूर्वक करें। सर्दी के मौसम में सामान्यतः सभी इसका प्रयोग कर सकते हैं। मध्याह्न में प्राणायाम न हो सके,तो प्रातः और सायंकाल में ही कर सकते हैं।

5.3.2. उज्जायी कुंभक

विधि–सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठे। कमर, गर्दन को सीधा रखें। दोनों नासारन्ध्रों से कण्ठ को संकुचित करते हुए श्वास लें जिससे धीमे–धीमे आवाज(छोटे बच्चे के खर्राटे, लहरों की ध्वनि) उत्पन्न हो। तत्पश्चात् यथासम्भव कुम्भक करें फिर प्राणायाम की प्रणव मुद्रा बनाएं तथा बाएं नासारन्ध्र से धीरे–धीरे प्रश्वास करें। इस क्रिया को बार–बार दोहराएं, यहीं उज्जायी प्राणायाम हैं।

लाभ–इसके नियमित अभ्यास से सभी प्रकार के कफ सम्बंधी कण्ठदोश नहीं होते। शरीर में स्थित जठराग्नि प्रदीप्त होती है। इससे नाड़ी सम्बन्धी, जलोदर, धातु सम्बन्धी सभी दोश दूर हो जाते हैं। कहा गया है कि इस प्राणायाम को उठते–बैठते हमेशा करना चाहिए।

सावधानी– हृदय से सम्बन्धित किसी रोग या उच्च रक्तचाप वाले रोगियों को इस प्राणायाम में कुम्भक नहीं करना चाहिए। गले को (श्वास नली) अत्यधिक संकुचित न करें।

5.3.3. सीत्कारी कुंभक

विधि– सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठे। दोनों हाथों को ज्ञान या जिन मुद्रा में रखें। मुख को खोले, दोनों जबड़ों को (दांतों को) आपस में मिला ले तथा सीत्कार की आवाज उत्पन्न कर श्वास अंदर ले तत्पश्चात् यथासंभव कुम्भक करें तथा दोनों नासारन्ध्रों से प्रश्वास करें।

लाभ–इसका नियमित अभ्यास करने से साधक कामदेव के समान सुंदर हो जाता है। साधक योगिनी समूहों द्वारा प्रशंसित होता है। वह सृश्टि और संहार करने योग्य हो जाता है। इसके अभ्यास से भूख–प्यास संतुलित होती है तथा साधक को निद्रा या सुस्ती नहीं सताती। साधक का अपने शरीर पर पूरा नियंत्रण हो जाता है। वह सभी प्रकार के उपद्रवों से बचा रहकर इस पृथ्वी पर एक महान योगी होता है। इस प्राणायाम के अभ्यास से अम्ल–पित्त आदि की समस्याएं दूर होती है। मुख की दुर्गन्ध एवं पायरिया आदि रोग नहीं होते हैं।

सावधानी– जिन व्यक्तियों को अत्यधिक ठण्ड लगती हो या कफ सम्बन्धी दोश हों उन्हें इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। यह शीत प्रकृति का प्राणायाम है इसलिए इसका अभ्यास सर्दियों में नहीं करना चाहिए।

5.3.4. शीतली कुंभक

विधि–पद्मासन, सुखासन आदि किसी सुविधा एवं सुखपूर्वक ठहरने वाले आसन का प्रयोग करें। हाथ घुटनों पर ज्ञान मुद्रा में रखें। जीभ को मुख से बाहर निकाल कर कौए की चोंच के समान बनाएं। जीभ के किनारों को मोड़ कर गोलाकार बनाने से वह पोली नली सी बन जाती है। इस पोली नली से श्वास को धीरे–धीरे अन्दर लें। फेफड़ों को पूरा भरें। तनुपट का दबाव नाभि तक जाए।

श्वास को कुम्भक कर रोकें। जितना आराम से अधिक से अधिक समय तक श्वास–संयम (कुंभक) करें। फिर दोनों नासिकाओं से धीरे– धीरे प्रश्वास करें। एक मिनट से लेकर पांच मिनट तक करें। विशेष रोग या गर्मी के शमन के लिए समय को बढ़ाया जा सकता है। यह शीतलता बढ़ाता है, पित्त को शमित करता है। इसे ग्रीष्म ऋतु में किया जाता है। पित्त प्रकृति वाले स्वयं की स्थिति को देख कर या निर्देश से सर्दी में भी कर सकते हैं।

लाभ–पित्त विकार दूर करता है। प्यास बुझाता है। पित्त विकार से उत्पन्न रोगों को शांत करता है। रक्तचाप उपशांत करता है। कांति, शांति और शीतलता को बढ़ाता है।

5.3.5. भस्त्रिका कुंभक

विधि– भस्त्रिका प्राणायाम को करने से पूर्व सर्वप्रथम साधक पद्मासन में बैठे तथा गर्दन एवं शरीर को बिल्कुल सीधा रखें, मुंह को बन्द रखें तथा नासिका द्वारा श्वास को यत्नपूर्वक बाहर छोड़े। इससे साधक वायु स्पर्श का अनुभव हृदय, कण्ठ और कपाल तक करेगा। इसके बाद साधक तेजी से वायु को पूरित (अन्दर ले) करे तथा तेजी से ही छोड़े। इस क्रिया को वेग से बार–बार करें, जैसे लुहार धौंकनी को तेजी से चलाता है। जब शरीर थकान का अनुभव करें तो दाएं हाथ से प्रणव मुद्रा बनाकर, दाएं नाक से श्वास अन्दर लें, यथासम्भव कुम्भक करें (जालंधर बंध के साथ) तथा धीरे–धीरे बाएं नाक से वास को बाहर छोड़ दें।

लाभ–यह प्राणायाम त्रिदोश नाशक है अर्थात् वात–पित्त–कफ से होने वाले सभी रोगों का दूर करता है। जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। यह प्राणायाम कुण्डलिनी को जागृत करता है, शरीर में स्थित तीनों ग्रन्थियों का भेदन करता है। यह शरीर को ऊश्मा प्रदान करता है। इसलिए इसका अभ्यास सर्दियों में करना चाहिए। जिन लोगों को सर्दी, खांसी, जुखाम ज्यादा या बार–बार लगता हो उन्हें इसका अभ्यास नियमित करना चाहिए।

5.3.6. भ्रामरी कुम्भक

विधि–इस कुम्भक में नासिका से वायु का भौरे के गुजंन से समान शब्द करते हुए पूरक करना चाहिये, और इसके बाद भ्रमरी के नाद के समान मन्द–मन्द आवाज करते हुए रेचक करना चाहिये। इस क्रिया में रेचक ज्यादा महत्वपूर्ण है इस कारण इसे भ्रामरी प्राणायाम कहते है।

लाभ–इसके अभ्यास से चित्त में आनन्द की अभिव्यक्ति होती है चित्त शांत होता है। चित्त के शांत होने से उच्चतर योग लक्ष्यों का साधन संभव होता है।

5.3.7. मूर्च्छा कुम्भक

विधि–इस कुम्भक की प्रक्रिया में सर्वप्रथम श्वास को अन्दर लेकर अन्त में जालन्धर–बन्ध लगाकर धीरे–धीरे रेचन करना चाहिये। इस प्रकार करने पर चित्त बाह्य कारणों से ऐसा पृथक हो जाता है मानो

साधक मूर्च्छा में चला गया हो।

लाभ–मूर्छा कुम्भक का अभ्यास आनन्द प्रदान करने वाला है। इससे मन को स्थिर होता है। मूर्छा कुम्भक ध्येयाकार का दर्शन प्रदान करता है।

5.3.8. प्लाविनी कुम्भक

विधि–इसमें शरीर के भीतर अधिक से अधिक वायु को उदर में भरने पर शरीर इतना हल्का हो जाता है कि अगाध जल में भी कमल के पत्ते के समान सुखपूर्वक साधक तैरता रहता है।

लाभ–प्राण वायु पर विजय प्राप्त हो जाती है। कब्ज दूर हो जाता है। वीर्य पुष्ट और रक्त का शुद्धिकरण होता है।

5.4 हठयोग प्रदीपिका में बन्ध एवं मुद्रा

बन्ध अन्तः शारीरिक प्रक्रिया एवं शारीरिक अभ्यास है। इनके अभ्यास से विभिन्न अंगों तथा नाड़ियों को नियंत्रित किया जाता है। बंध का शाब्दिक अर्थ है–बांधना या कड़ा करना। बन्ध के अभ्यास में शरीर के अलग–अलग अंगों को शांति से संकुचित एवं कड़ा किया जाता है। इससे आंतरिक अंगों की मालिश होती है। रक्त का जमाव दूर होता है। यह अंग विशेष से सम्बंधित नाड़ियों के कार्यों को नियमित करता है। परिणामतः सम्पूर्ण शरीर की क्रिया प्रणाली एवं स्वास्थ्य में सुधार होता है।

बंध से सूक्ष्म शरीर, प्राण शरीर सक्रिय हो जाता है। इनके अभ्यास द्वारा प्राण ऊर्जा को जागृत एवं भावावेश को उपशान्त किया जा सकता है। इससे चक्रों पर सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है। सुषुम्ना नाड़ी में प्राण के स्वतंत्र प्रवाह में उत्पन्न अवरोध दूर हो जाते हैं। प्राण शक्ति जागृत होकर ऊर्ध्वमुखी हो जाती है। इनके अभ्यास से साधक सूक्ष्म शरीर में स्थित प्राण शक्ति के तरंगों के प्रति जागरूक हो जाता है। इन शक्तियों पर स्वैच्छिक नियंत्रण करने में भी समर्थ हो जाता है। फलतः साधक प्राण शक्ति को अपनी इच्छानुसार शरीर के किसी भी अंग में प्रवाहित करने एवं व्यक्ति के शरीर में भी पहुंचाने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। अतः बंधों का अभ्यास योगाभ्यास के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभ्यासों में से हैं। ये संक्षिप्त किंतु तीव्र एवं शक्तिशाली अभ्यास हैं।

मोदन्ते हष्यन्ति यया सा मुद्रा यन्त्रिता सुवर्णादि धातुमया वा'

अर्थात् जिसके द्वारा सभी व्यक्ति प्रसन्न होते है। वह मुद्रा है जैसे सुवर्णादि बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त करके व्यक्ति प्रसन्न होता है। 'मुद हर्षे' धातु में 'रक्' प्रत्यय लगाकर मुद्रा शब्द की उत्पत्ति होती है। जिसका अर्थ है प्रसन्नता को प्रदान करने वाली स्थिति।

योग के विषय में मुद्रा शब्द को रहस्य तथा अंगों की विशिष्ट स्थिति के अर्थ मे लिया गया है। हठयोग के ग्रन्थों में भी इसकी चर्चा की गई है। यह उच्च अभ्यास है तथा गुरु के निर्देशन में ही इसे करना चाहिए। कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में मुद्राओं का अभ्यास अत्यधिक सहायक है। अतः यह अभ्यास आसनों एवं प्राणायामों के अभ्यास से अधिक शक्तिशाली माना जाता है। यह रहस्यमयी है इसलिए देवताओं के लिए भी दुर्लभ बताई गई है। गोपनीय होने के कारण सार्वजनिक नहीं की जाने वाली है। अतः रहस्य अर्थ उचित है।

मुद्रा को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि आसन, प्राणायाम की सम्मिलित विशिष्ट स्थिति जिसके द्वारा कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है, मुद्रा कहलाती है। चित्त को प्रकट करने वाले किसी विशेष भाव को भी मुद्रा कहते हैं।

आसन एवं प्राणायाम की अपेक्षा यह सम्मिलित अभ्यास (मुद्रा) शीघ्र फल प्रदान करता है। मुद्राओं के अभ्यास से साधक सूक्ष्म शरीर या अनैच्छिक शरीरगत प्रक्रियाओं पर और प्राणशक्ति को नियंत्रित कर लेता है। फलस्वरूप उसकी विभिन्न वृत्तियाँ अर्न्तमुखी हो जाती है तथा साधक को साधना में सफलता प्राप्त होती है। साधक अपने प्राणमय कोश और मनोमय कोश को स्वच्छ व निर्मल बना लेता है जिससे चित्त एकाग्र हो जाता है तथा कुण्डलिनी जागरण व समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

हठप्रदीपिका में दस मुद्राओं का वर्णन किया गया हैं घेरंड संहिता में 25 मुद्राएं हैं। इन सभी ग्रंथों में मुद्राओं का मुख्य रूप से वर्णन किया गया है।

प्राणायाम शुरू करने से पहले रेचक, पूरक, कुम्भक, मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध का पूर्ण अभ्यास कर लेना चाहिए अन्यथा प्राणायाम का वास्तविक लाभ नहीं मिल पाएगा।

बन्धों के प्रयोग का तरीका निम्नलिखित हैः–

पूरक के समय–मूलबन्ध और उड्डीयान बन्ध।

कुम्भक के समय–मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध

रेचक के समय–मूलबन्ध और उड्डीयान बन्ध।

5.4.1 मूलबन्ध

किसी भी सुखद आसन में बैठकर गुदा को ऊपर की ओर खींचाव देना, संकोचित करना मूलबन्ध कहलाता है।

एड़ी से सीवनी को दबा कर गुदा का आकुन्चन करना चाहिए। फिर अपनवायु को ऊपर की ओर खींच कर रखने से मूलबन्ध होता है।

लाभ– भूख बढ़ती है। बवासीर एवं मूत्रेन्द्रिय रोग दूर होते हैं। अपान वायु शुद्ध होती है। इस बन्ध से अपान वायु प्राण वायु के साथ एक होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है और नाद उत्पन्न होने लगता है। उर्जा का उर्ध्वारोहण होने से साधक को उत्साह और आनन्द मिलता है। वृद्धावस्था दूर चली जाती है। शक्ति केन्द्र (मूलाधार चक्र) जागृत होता है।

5.4.2. उड्डीयान बन्ध

उदर के नाभी वाले भाग को पीछे ऊपर की ओर खींचकर (पेट की मांसपेशियों को अन्दर की ओर खींचना) स्थिर रखने को उड्डीयान बन्ध कहते हैं। यह बन्ध बाह्य कुम्भक के साथ किया जाता है।

उदर को नाभि के ऊपर, नीचे और पीछे की और खींचें। यह उड्डीयान–बन्ध मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान है।

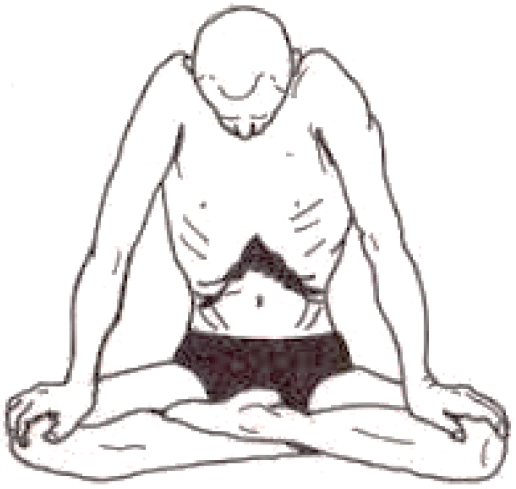

लाभ– काष्ठबद्धता, अजीर्ण, अम्ल–पित्त आदि रोग दूर होते हैं। पेट के अन्दर के अवयवों की मालिश होती है। बड़ी तथा छोटी आंत सक्रिय होती है। तैजस केन्द्र (मणिपूर चक्र) जागृत होता है। शारीरिक तनाव दूर होकर शरीर में हल्कापन आता है।

5.4.3. जालन्धर बन्ध

आन्तरिक कुम्भक के साथ कण्ठ को सिकोड़कर ठुडी को कण्ठ कूप से लगाना जालन्धर बन्ध कहलाता है। हृदय और ठुड्डी के मध्य केवल पांच से छः अंगुल का फासला रहे।

कण्ठ को संकुचित कर हृदय में चिबुक को दृढ़तापूर्वक लगावें। यह जालन्धर नामक बन्ध बुढ़ापा और मृत्यु को दूर करता है।

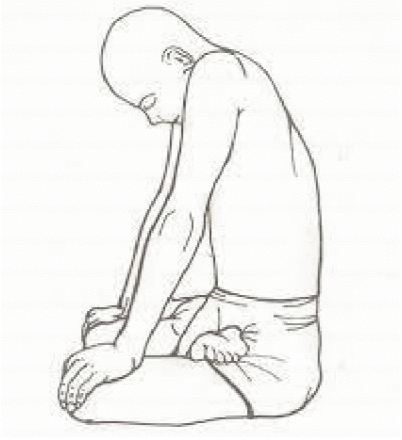

लाभ– गले की बीमारियां दूर होती है। उच्च तथा निम्न रक्तचाप में लाभदायक है। फेफड़ें शक्तिशाली बनते हैं।

5.4.4. महामुद्रा

महामुद्रा में साधक को प्रथम बायें अंग से अभ्यास शुरू करना चाहिये। इस हेतु बायें पैर से सीवनी नाड़ी को दबाया जाता है एवं दाहिना पैर सामने को फैला रहता है तब इसे चन्द्रा का अभ्यास कहते है। सूर्या के अभ्यास के लिये दाहिने पैर की ऐड़ी सीवनी में दबाकर बायें पैर को फैलाते है इस प्रकार के अभ्यास को सूर्या का अभ्यास कहा जाता है। पहले बायीं नसिका से फिर दाहिनी नासिका से कुंभक प्राणायाम करके इस महामुद्रा का अभ्यास करते है।

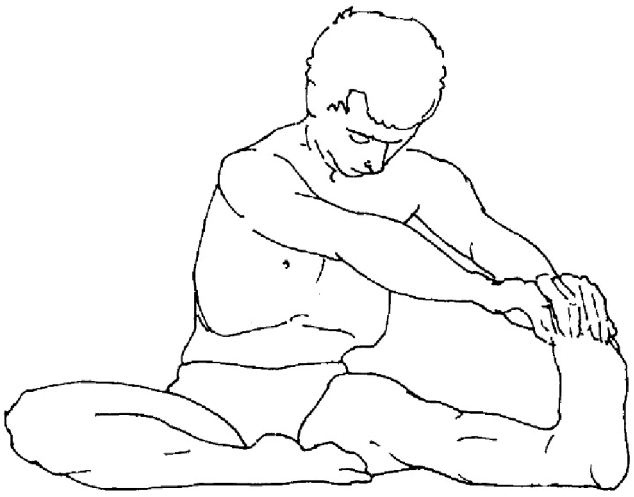

लाभ– अविधा, अस्मिता, राग–द्वेष, अभिनिवेश अदि पंच क्लेश तथा बुढ़ापा और मृत्यु दोष इससे नष्ट हो जाते है। इस कारण ऋशियों द्वारा इसे महामुद्रा कहा गया है। इसके अभ्यास से पथ्यापथ्य के ग्रहण कर विचार नहीं रखना पड़ता स्वयं ही सभी प्रकार के नीरस रस तक पच जाते है। तथा दुर्जर अन्न भी विषक्त न होकर अमृत क समान पच जाते है। इससे क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अपच, आदि रोगों का नाश हो जाता है। यह महामुद्रा बड़ी सिद्धिदायक है। इससे अणिमा, गरिमा, लछिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती है। इसका अभ्यास गोपनीय है।

5.4.5. महाबन्ध

बांये पैर को मोड़कर उसकी एड़ी को सीवनी पर लगाएं तत्पश्चात् दाएं पैर को बायीं जंघा पर रखें। धीरे से वायु का पूरक कर अपनी ठुड्डी को छाती से लगाएं (जालन्धर बंध) और मूलस्थान (योनि) को संकुचित करें। अपना सारा ध्यान सुषुम्ना पर लगाएं। यथाशक्ति कुम्भक करें तथा धीरे–धीरे वायु का रेचक कर दें। पुनः इसी अभ्यास को पैर बदलकर दोहराएं। यह अभ्यास महाबंध कहलाता है।

लाभ–महाबंध सभी महान् सिद्धियों को देने वाला है। यह साधक को मृत्यु के भय से दूर कर शरीर में स्थित तीनों नाडियाँ इडा, पिंगला और सुषुम्ना का जो संगम स्थान है तथा दोनों भौहों के बीच का स्थान जो शिवस्थान है वहाँ मन को लगाती है अर्थात् यहाँ प्राणिक धाराएं मिलती है।

सावधानी–सरवाईकल स्पॉन्डिलाइटिस से पीड़ित रोगी, साइटिका या जोड़ो से पीड़ित रोगी इसका अभ्यास न करें।

5.4.6. महावेध मुद्रा–

सर्वप्रथम साधक को दृढ़तापूर्वक महाबन्ध लगाकर मन को शान्त कर एकाग्र करना चाहिए। तत्पश्चात् जालन्धर बंध द्वारा, श्वास को पूरक कर कुम्भक लगाना चाहिए। दोनों हथेलियों को भूमि पर टिका दें तथा शरीर का संतुलन बनाते हुए भूमि से नितम्बों को ऊपर उठाकर धीरे–धीरे भूमि पर ताड़न करें। ऐसा करने से वायु दोनों स्वरो, नाड़ियों (इड़ा, पिंगला) को छोड़कर सुषुम्ना में बहने लगती है। वायु के सुषुम्ना में बहने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। मृतावस्था की स्थिति उत्पन्न होने पर कुम्भक को खोल दे तथा वायु का रेचन कर दें (मृतावस्था का अर्थ है जब कुम्भक असहज होने लगें, बैचेनी की स्थिति)।

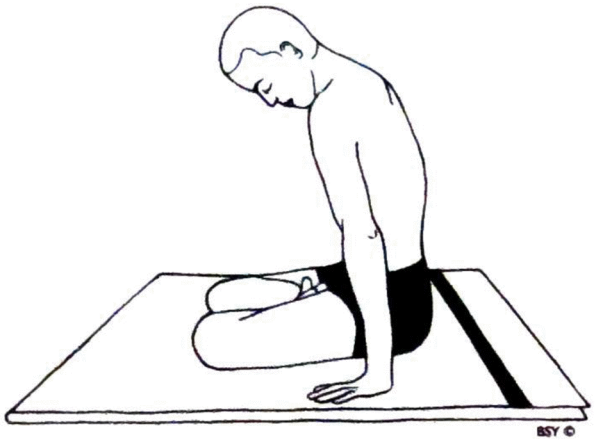

लाभ–इसके नियमित अभ्यास करने वाले साधक को अनेक महान् सिद्धियाँ प्राप्त होती है। इसके अभ्यास से शरीर में झुर्री पड़ना, बाल का असमय सफेद हो जाना तथा शरीर का कम्पन दूर होते है इसलिए यह बड़ा ही उत्तम अभ्यास है। ये जरा और मृत्यु का नाश करती है, शरीरस्थ जठराग्नि को प्रदीप्त करती है, अणिमा आदि अनेक सिद्धियों को देने वाली है। कहा भी गया है कि जो साधक नित्यप्रति तीन घंटे में आठ बार इनका अभ्यास करता है उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और उसे सभी पुण्य प्राप्त होते हैं।

प्रारम्भ में इसका अभ्यास कम ही करें और धीरे–धीरे अपनी क्षमता अनुसार अभ्यास को बढ़ाए। इसके अतिरिक्त यह चेतना द्वारा शरीर में स्थित षट्चक्रों को बेधन करती है। इसके द्वारा आत्मा से सम्बन्ध भी स्थापित होता है। उदर सम्बन्धित सभी रोगों को दूर करती है। पूरे शरीर में प्राण के संचार को बढ़ाती है।

सावधानी– महावेध मुद्रा एक उच्च अभ्यास है और इसके अधिकारी भी उच्च कोटि के ही है। इसका अभ्यास एकान्त में गुप्त ही रखना चाहिए। यथासम्भव ही कुम्भक का प्रयास करें, फेफडों पर अतिरिक्त दबाव न डाले। धीरे–धीरे ही अभ्यास को बढाए। मेरुदण्ड से सम्बन्धित रोगों में इसका अभ्यास वर्जित है। जोड़ों में दर्द होने पर भी इसका अभ्यास न करे। हथेलियों को भूमि पर अच्छी तरह टिकाएं।

5.4.7. खेचरी मुद्रा

सर्वप्रथम किसी भी ध्यानात्मक आसन् में बैठे तथा जीभ को पलटकर, कपालकुहर के अन्दर लगाना चाहिए और दृष्टि को भूमध्य (दोनों भौहों के मध्य का स्थान) पर लगाना ही खेचरी मुद्रा है।

जीभ का लम्बा करने के उपाय–जीभ को किस प्रकार लम्बा करे कि वो सीधे कपाल कुहर में प्रवेश करे, इसके निम्न तरीके बताए गए हैं– काटना, चालन और दोहन इन तीन क्रियाओं द्वारा ही जीभ बढ़ती है, उसे इतना बढ़ाना है कि वह भूमध्य को स्पर्श करे। ऐसा करने से ही खेचरी सिद्ध होती है। थूअर (स्नुही) के धारदार पत्ते को लेकर, स्निग्ध तथा स्वच्छ (कीटानु रहित) शस्त्र लेकर उससे जिह्वा के तालु को बाल बराबर काटें। काटने के बाद उस स्थान (जिह्वा तालु) पर सेंधा नमक तथा हरणे का चूर्ण, सात दिन तक लगाए और फिर से बाल बराबर काटें। इसी विधि को छह महीने लगातार करें, ऐसा करने से जिह्वा का मूल (तालु) का शिराबन्ध हट जाता है। इस प्रकार जिह्वा बढ़ जाती है और आसानी से कपालकुहर में प्रवेश करती है।

लाभ–खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने वाला साधक विष, रोग, मृत्यु, बुढ़ापे से कभी पीड़ित नहीं होता। अतः वह इन सब पर विजय स्थापित करता है। उसे तन्द्रा, निद्रा, भूख, प्यास, मूर्च्छा आदि भी नहीं सताती है। साधक किसी भी कर्म में आसक्त नहीं रहता उसका चित्त शून्य में विचरण करता है। जो साधक खेचरी मुद्रा को करता है उसका बिन्दु सून्दर स्त्री के स्पर्श मात्र या आलिंगन से भी स्खलित नहीं होता। इस प्रकार का अभ्यास आधे महीने भर मात्र करने से मृत्यु नहीं आती। तक्षक सर्प जिसको सर्पो में बहुत भयानक सर्प माना गया है। कहा जाता है कि खेचरी सिद्ध होने पर अगर सर्प (तक्षक) साधक को काट ले तो उस भयंकर विष

का भी साधक पर कोई असर नहीं होता है। साधक को सभी प्रकार के स्वाद जैसे नमकीन, तीखा, खट्टा, दूध, शहद तथा घी आदि अनुभव होते हैं। साधक के शरीर पर शस्त्र–प्रहार को कोई फर्क नहीं पड़ता, उसे अणिमा आदि अन्य आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

सावधानी–खेचरी मुद्रा का अभ्यास बहुत कठिन माना जाता है इसलिए इसे बिना गुरू के निर्देशन के नहीं करना चाहिए। जिह्वा को काटते वक्त बहुत सावधानी बरतें। पहले धीरे–धीरे ही काटें, काटने के बाद उस पर सेंधा नमक तथा हरड़े के चूर्ण से अच्छी तरह घर्षण करें।

5.4.8. विपरीतकरणी मुद्रा

विपरीतकरणी मुद्रा की विधि बताने से पूर्व सोमरस की चर्चा की गई है तथा उसका महत्व बताया गया है। कहा गया है कि सोममण्डल से जो अमृत का स्त्राव होता है वो नाभि में स्थित सूर्य द्वारा भस्म हो जाता है। ऐसा होने से व्यक्ति को बुढ़ापा आ जाता है। इस प्रक्रिया को रोकने के लिए एक दिव्य क्रिया बताई गई है जिसे गुरु द्वारा ही सीखना चाहिए, यह क्रिया विपरीतकरणी मुद्रा है। इसकी विधि इस प्रकार है–

अर्थात् पीठ के ऊपर (बल) लेटकर, दोनों पैरो को धीरे–धीरे उठाए जिससे नाभि ऊपर और तालु नीचे हो जाता है अर्थात् सूर्यमण्डल ऊपर और सोममण्डल नीचे होने की प्रक्रिया ही विपरीतकरणी कहलाती है। इसे केवल गुरु द्वारा ही सीखना चाहिए।

लाभ–नित्य प्रति इसका अभ्यास करने वाले साधक की जठराग्नि बढ़ती है। इसके छह माह के अभ्यास से ही शरीर की झुर्री तथा सफेद बाल काले हो जाते हैं। जो साधक प्रतिदिन तीन घंटे तक इसका नियमित अभ्यास करे वह मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। उसे बुढ़ापा भी नहीं सताता। इसके अतिरिक्त इससे शरीर में प्राण के प्रवाह में संतुलन आता है। मुख्यतः प्राण का प्रवाह मणिपुर चक्र से विशुद्धि चक्र की ओर होता है। इससे शरीर की शुद्धि होती है। जिससे शरीर में किसी भी प्रकार की व्याधी नहीं होती। यह ओज–शक्ति को ऊपर के केन्द्रों में ले जानी की एक महत्वपूर्ण मुद्रा है।

सावधानी–इसका नित्यप्रति अभ्यास करने वाले साधक को अभ्यास काल में पर्याप्त भोजन करना चाहिए क्योंकि इस अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है अगर भोजन कम किया जाए तो वह अग्नि शरीर को जलाने लगती है इसलिए भोजन को सही मात्रा में लेना जरूरी है। इसका अभ्यास धीरे–धीरे बढ़ाएँ। उच्च रक्त चाप,हृदय की किसी बीमारी से पीडित, थाइराइड ग्रन्थि के बढ जाने पर इसका अभ्यास न करें।

ऋतुस्त्राव होने पर भी इसका अभ्यास न करें। मेरूदण्ड से सम्बन्धित रोगों में भी इसका अभ्यास न करे। अत्यधिक स्थूल व्यक्ति को इसका अभ्यास (दीवार) किसी के सहारे से ही करना चाहिए।

5.4.9. वज्रोली मुद्रा

वज्रोली मुद्रा के दो प्रकार बताये गये हैः– (1) सहजोली (2) अमरौली

वीर्य के क्षरित होने से रोकने के लिए वीर्य को धीरे–धीरे आकुंचित कर उसे उर्ध्वगामी करने का अभ्यास स्त्री या पुरूष को यदि हो जाये तो इसे बज्रोली मुद्रा की सिद्धि कहते है। इसके लिए 14 अंगुल लम्बी सीसे की नली जो लिंग के छिद्र में प्रवेश के योग्य हो प्रयुकत की जाती है। एक शिरा टेड़ा रहता है। करीब 12 अंगुल प्रवेशित कर टेड़े शेष 2 अंगुल भाग से फूत्कार द्वारा वायु प्रवेशित करने से उपस्थ भाग का शोधन होता होता है। इसके बाद जल के आकर्षण से इस क्रिया को सिद्ध किया जाता है जल खींच सकने की योग्यता आने पर वीर्य को रोके जा सकने की योग्यता आ जाती है। अतः विशेष कतर्व्य है कि दिव्य जीवन हेतु वीर्य की रक्षा की जावे। इस हेतु वज्रोली (एवं साहायक सहजोली एवं अमरौली) की साधन श्रेष्ठ कर्म है।

लाभ–इसका अभ्यास अत्यन्त पुण्यकारक माना गया है। रूप लावण्य एवं बल की वृद्धि होती है। साधक त्रिकालदर्शी हो जाता है। पुरूष योगी एवं स्त्री योगिनी के पद को प्राप्त कर सकते है। भोग एवं मोक्ष की एक एक साथ प्रदायक मुद्रा है। इससे आकाश गमन (आकाश में उड़ने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इससे देह की सिद्ध प्राप्त होती है।

5.4.10. शक्तिचालनी मुद्रा

शक्ति चालनी मुद्रा में सोयी हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर उसे उर्ध्वमुखी करने से है। जिसमें प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित हो सके। कन्द स्थान का संपीडन ही शक्ति–चालन है। साधक को वज्रासन में बैठकर दोनों पैरों को एड़ियों के पास हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़कर उस कन्द का प्रपीड़न करना चाहिये–दबाना चाहिये। इस तरह वज्रासन में स्थित होकर शक्तिचालन कर कुण्डलिनी को जगाना चाहिये।

लाभ–योगी को मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। सिद्धियाँ प्राप्त होती है। मृत्यु वश में हो जाती है। 40 दिन के अभ्यास से प्राणायाम सिद्ध योगी हो जाता है। भस्त्रिका कुम्भक के साथ शक्तिचालिनी से इच्छामृत्यु प्राप्त होती है। 72 हजार नाड़ियो का मलशोधन हो जाता है। मन वश में होकर समाधि में लीन होकर निद्रारहित अवस्था में रूद्राणी, शाम्भवी मुद्रा तथा उन्मनी अवस्था प्राप्त करता है। सभी प्रकार के ज्वरों (कासश्वासज्वर) से छुटकारा मिलता है।

5.5 निष्कर्ष

प्रस्तुत इकाई में हठ योग प्रदीपिका के अनुसार आसन, प्राणायाम, बंद एवं मुद्राओं के बारे में प्रकाश डाला गया है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. हठ योग प्रदीपिका के अनुसार बैठ कर किये जाने वाले आसनों के नाम लिखिए।
2. हठ योग प्रदीपिका के अनुसार पीठ के बल लेट कर किये जाने वाले आसनों के नाम लिखिए।
3. हठ योग प्रदीपिका के अनुसार पेट के बल बैठ कर किये जाने वाले आसनों के नाम लिखिए।
4. प्लाविनी क्या है?
5. बज्रोली मुद्रा किसे कहते है ?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणी लिखिए – 1. धनुरासन, 2. उज्जायी कुंभक, 3. खेचरी मुद्रा।

3. निबंधात्मक प्रश्न–

1. हठ योग प्रदीपिका के अनुसार प्राणायाम पर प्रकाश डालिए।
2. हठ योग प्रदीपिका के अनुसार विभिन्न मुद्राओं पर प्रकाश डालिए।